अप्रैल 2020

स्रोत

विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स

मूल्य: ₹ 30.00

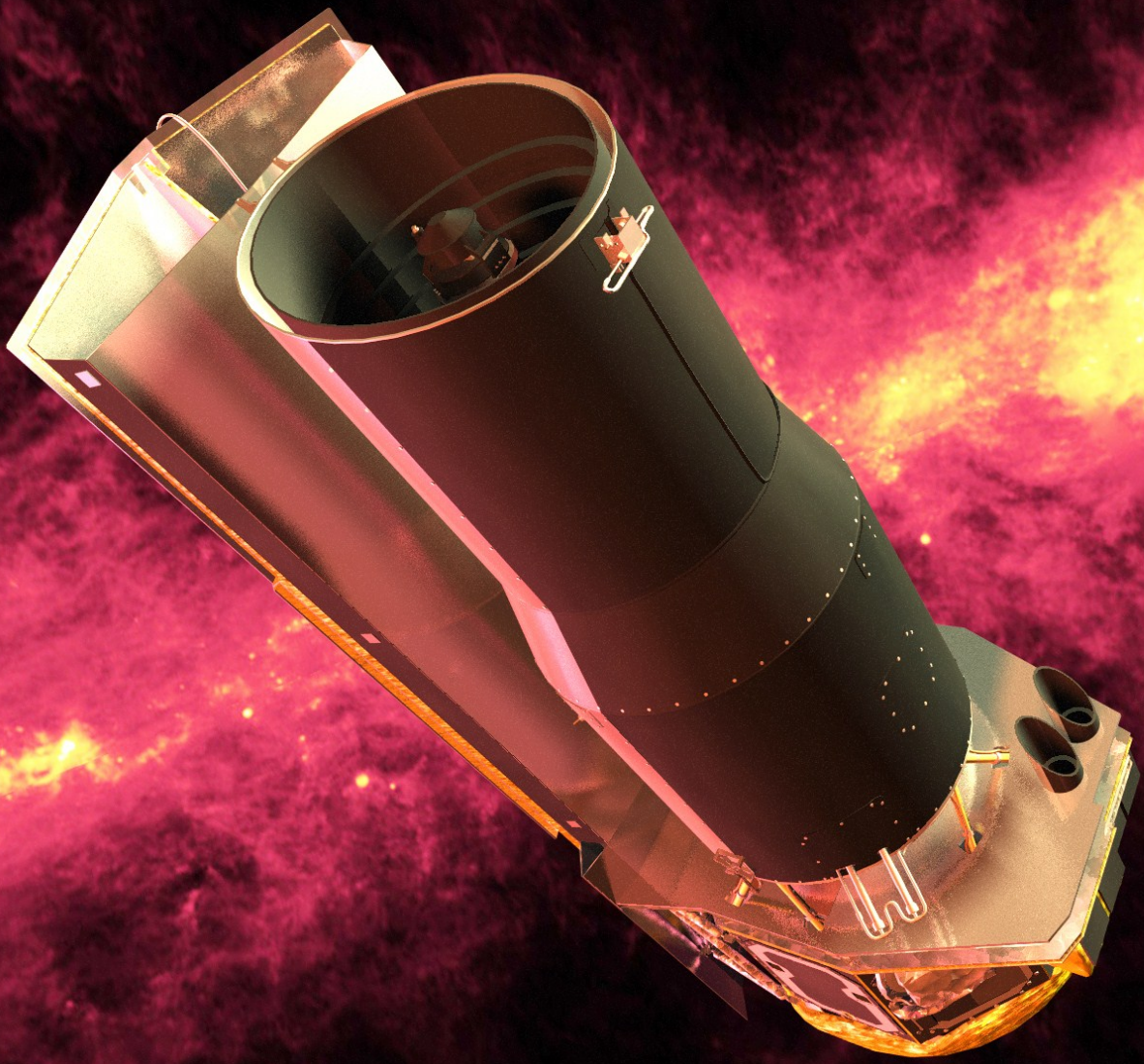

स्पिट्ज़र टेलीस्कोप की महान उपलब्धियां

07 सौर ऊर्जा की मदद से ईंधन निर्माण

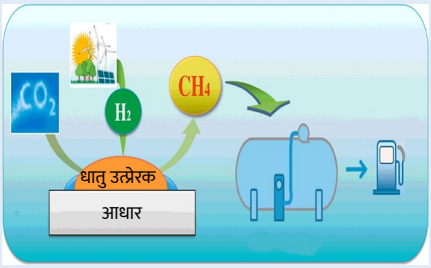

18 नया कोरोना वायरस कहां से आया?

26 साढ़े पांच हज़ार वर्ष पुरानी चुईंगम

33 नींद को समझने में छिपकली की मदद

वर्ग पहेली 187

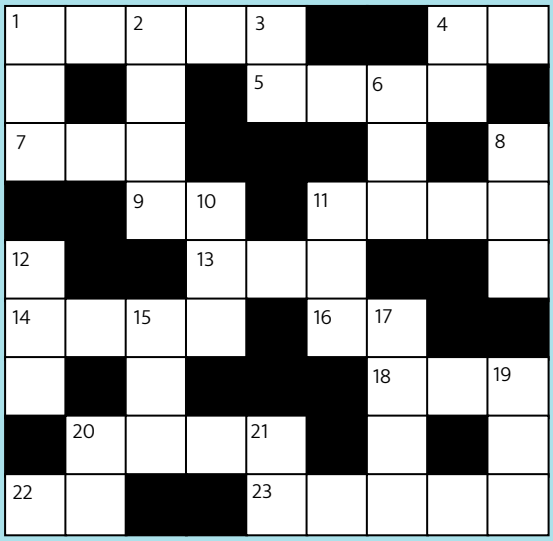

संकेत

दाएं से बाएं

1. हमारी अपनी निहारिका (5)
4. संख्या में उसी का कितनी बार गुणा करेंगे बताती संख्या (2)
5. कुमार को नीम में टेलीग्राफी के आविष्कारक (4)
7. वस्तु का जलना (3)
9. आधी मलमली विष्ठा (2)
11. शीतल छटपटाहट में अवसाद (4)
13. सिर या बिगड़ी लोमड़ी (3)
14. दृष्टिभ्रम (4)
16. सरल ताल में बेल (2)
18. सूर्यास्त की दिशा (3)
20. बृहस्पति का चंद्रमा (4)
22. पलटा सको तो दूरी मिलेगी (2)
23. चांद पर भारत की उड़ान का वाहन (5)

ऊपर से नीचे

1. हृदय में खून यहां पहुंचता है (3)
2. ओस, रात में गिरती है (4)
3. एक प्रकार का विकिरण या पहलवान (2)
4. तेल निकालने का यंत्र (2)
6. घोंसला-परजीवी पक्षी (3)
8. रघु टनाटन में शरीर का एक जोड़ (3)
10. शरीर के प्रतिरक्षा तंत्र का महत्वपूर्ण हिस्सा (3)
11. बहने वाले पदार्थ (3)
12. नमीदार गर्मी (3)
15. धुआं निकलने का साधन (3)
17. गर्मी का नाप (4)
19. जगमग नदी में एक धुआंरहित चूल्हा (3)
20. वायुरूपी पदार्थ (2)
21. कदम डगमगाने में कदम (2)

स्रोत

विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स

अप्रैल 2020

वर्ष-14 अंक-04 (पूर्णांक 375)

संपादन एवं संचालन

एकलव्य

जमनालाल बजाज परिसर,

जाटखेड़ी, भोपाल - 462026

फोन : (0755) 2977770, 2977771, 72, 73

ई-मेल : srote@eklavya.in, srotefeatures@gmail.com

www.srotefeatures.in, www.eklavya.in

संपादक

सुशील जोशी

सहायक संपादक

प्रतिका गुप्ता

ज़ुबैर सिद्दिकी

आवरण डिज़ाइन

रोहित कोकिल

उत्पादन सहयोग

इंदु नायर, कमलेश यादव

राकेश खत्री

वितरण

झनक राम साहू

सदस्यता शुल्क

300 रुपए

एक प्रति 30 रुपए

चंदे की रकम कृपया एकलव्य, भोपाल के नाम बने ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें।

कयामत से मात्र 100 सेकंड दूर कयामत की घड़ी		2
2019 में पर्यावरण बचाने के प्रेरक प्रयास	डॉ. ओ.पी. जोशी	3
वैकल्पिक ईंधन की ओर भारत के बढ़ते कदम	नरेन्द्र देवांगन	5
सौर ऊर्जा की मदद से ईंधन निर्माण		7
एक अंधविश्वास का इतिहास	डॉ. जी. एल. कृष्ण	8
स्पिट्ज़र टेलीस्कोप की महान उपलब्धियां	प्रदीप	10
विज्ञान शिक्षा का मकसद और पद्धति	आर. एन. के. बमज़ाई	12
रासायनिक हथियारों से बचाव के लिए जेनेटिक उपचार		16
पोषण कार्यक्रमों की कितनी पहुंच है ज़रूरतमंदों तक	भारत डोगरा	17
नया कोरोना वायरस कहां से आया?		18
भारत में गर्म शहरी टापू	डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन	19
अम्लीय होते समुद्र के प्रभाव/ सबसे बड़े भाषा डैटाबेस तक पहुंच हुई महंगी		21
फेसबुक डैटा शोधकर्ताओं के लिए उपलब्ध		23
गंध और मस्तिष्क का रिश्ता	डॉ. विपुल कीर्ति शर्मा	24
साढ़े पांच हज़ार वर्ष पुरानी चुईंगम	डॉ. विपुल कीर्ति शर्मा	26
प्राचीन मिस्र के पुजारियों की कब्रगाह मिली/ तीन हज़ार साल पुराना शव बोला!		28
बिल्ली को मिली कृत्रिम पैरों की सौगात		29
आसान नहीं है चीतों का पुनर्वास	प्रमोद भार्गव	30
नींद को समझने में छिपकली की मदद		33
भेड़ियों की नई प्रजाति विकसित हुई		34
क्यों करती है व्हेल हज़ारों किलोमीटर का प्रवास		35
पृथ्वी का एक नया युगः चिबानियन		36
बरमुडा त्रिकोण के मिथक का पुनः भंडाफोड़		37

स्रोत में छपे लेखों के विचार लेखकों के हैं। एकलव्य का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यह मासिक संस्करण स्वयंसेवी संस्थाओं, सरकारी संस्थाओं व पुस्तकालयों, विज्ञान लेखन से संबद्ध तथा विज्ञान व समाज के रिश्तों में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के विशेष अनुरोध पर स्रोत के साप्ताहिक अंकों को संकलित करके तैयार किया जाता है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। स्रोत का उल्लेख अवश्य करें।

कयामत से मात्र 100 सेकंड दूर कयामत की घड़ी

बुलेटिन ऑफ दी एटॉमिक साइंटिस्ट्स ने इस साल कयामत की घड़ी के कांटों को मध्यरात्रि से बस 100 सेकंड की देरी पर सेट किया है। 1947 में इस घड़ी की शुरुआत के बाद यह कयामत के सबसे नज़दीक रखी गई है। यह इस बात की चेतावनी है कि पिछले वर्ष की तुलना में इस वर्ष हम विनाश के और करीब आ गए हैं। पिछले वर्ष घड़ी के कांटे मध्यरात्रि से दो मिनट (120 सेकंड) की दूरी पर थे।

कयामत की घड़ी (डूम्सडे क्लॉक) *बुलेटिन ऑफ दी एटॉमिक साइंटिस्ट्स* द्वारा संचालित एक प्रतीकात्मक घड़ी है, जिसके कांटों का ठीक मध्यरात्रि पर होना सर्वनाश या कयामत का प्रतीक माना जाता है। घड़ी के कांटों को हर साल विश्व में बढ़ती गंभीर समस्याओं को देखते हुए सेट किया जाता है।

इस वर्ष बढ़ते सूचना संग्राम और अंतरिक्ष हथियारों की होड़ से बढ़ते खतरों को देखते हुए वैज्ञानिकों ने घड़ी को मध्यरात्रि से 100 सेकंड की देरी पर सेट करना तय किया। इसके अलावा परमाणु हथियारों के तनाव को कम करने में विफलता और जलवायु परिवर्तन की बढ़ती चिंता ने भी कांटों को मध्यरात्रि के और करीब ला दिया है।

इस दौरान, अमेरिका और ईरान के बीच सैन्य टकराव बढ़ा है, उत्तर कोरिया ने अमेरिका के साथ परमाणु समझौता तोड़ दिया है, और अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रम्प ने रूस के साथ मध्यम रेंज परमाणु बल संधि तोड़ दी है, जिसके चलते लोगों की चिंताएं और बढ़ गई हैं। जॉर्ज वाशिंगटन युनिवर्सिटी से परमाणु हथियार का अध्ययन करने वाली शेरन स्केवसनी का कहना है कि परमाणु हथियारों के मामले में असमंजस बहुत तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। साथ ही, हथियार विकास के लिए अंतरिक्ष एक नया क्षेत्र बनता जा रहा है। भारत, रूस और अमेरिका द्वारा उपग्रह-भेदी हथियार विकसित करने के कदम अंतरिक्ष हथियारों को बढ़ावा दे सकते हैं। इसके अलावा भ्रामक और झूठी खबरें, अनियंत्रित जेनेटिक इंजीनियरिंग और अमेरिका और रूस द्वारा हायपरसोनिक हथियारों के विकास से उत्पन्न संभावित खतरों ने घड़ी के कांटों को आधी रात के और नज़दीक ला दिया है।

इन हालात पर कैलिफोर्निया के पूर्व गवर्नर और वर्तमान में *बुलेटिन* के कार्यकारी अध्यक्ष जेरी ब्राउन ने आव्हान किया है, "जागो अमेरिका, जागो विश्व, हमें बहुत कुछ करने की ज़रूरत है... अभी कयामत की घड़ी आई नहीं है। हम अभी भी वक्त को पीछे खींच सकते हैं।" वे आगे कहते हैं कि हमारे पास अभी भी वक्त है कि हम परमाणु हथियारों की होड़, कार्बन उत्सर्जन और खतरनाक और विनाशकारी टेक्नॉलॉजी छोड़ दें और इस धरती को बचा लें। हम सब कुछ ना कुछ तो कर ही सकते हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

अगले अंक में....

स्रोत मई 2020
अंक 376

- **व्योम मित्रः एक मानव-रोबोट**
- **हवा में से बिजली पैदा करते बैक्टीरिया**
- **क्या तनाव से बाल सफेद हो जाते हैं?**
- **कृत्रिम बुद्धि से एंटीबायोटिक की खोज**
- **तोतों में मनुष्यों के समान अंदाज़ लगाने की क्षमता**

2019 में पर्यावरण बचाने के प्रेरक प्रयास

डॉ. ओ.पी. जोशी

पर्यावरण वैज्ञानिकों ने वर्ष 2019 को पुनः काफी गर्म बताया, परंतु इस गर्म वर्ष में भी दुनिया भर में पर्यावरण बचाने के अनुकरणीय एवं प्रेरक प्रयास हुए।

कोलंबिया की सरकार ने दक्षिण अफ्रीका की एक कंपनी एंग्लोगोल्ड को छोटे से गांव काज़मारका में ज़मीन के नीचे दबे सोने के खनन की अनुमति प्रदान की थी। यहां लगभग 680 टन सोना होने की संभावना बताई गई थी। लगभग 30 हज़ार की आबादी वाले इस गांव में खनन कार्य के संदर्भ में अप्रैल में एक जनमत संग्रह का आयोजन किया। केवल 80 लोगों ने खनन के पक्ष मत रखा एवं शेष लोगों ने विरोध किया। लोगों का कहना था कि सोने से ज़्यादा महत्वपूर्ण पर्यावरण है; पर्यावरण बचेगा तो ही हम बचेंगे। हम चाहते हैं कि हमारी आने वाली पीढ़ियों को बेहतर पर्यावरण मिले। जनमत के परिणाम से सरकार काफी परेशान हो गई।

इसी तरह, म.प्र. के सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व में केंद्र सरकार के युरेनियम खनन के प्रस्ताव का राज्य सरकार ने विरोध किया एवं कहा कि वन्य प्राणियों की कीमत पर युरेनियम खनन नहीं करने दिया जाएगा। बैतूल ज़िले में युरेनियम होने की संभावना बताई गई थी।

मंगोलिया के दक्षिण गोबी रेगिस्तान में बड़े पैमाने पर खनन की योजना लगभग 10 वर्ष पूर्व वहां की सरकार ने बनाई थी। यह वह क्षेत्र है जहां हिम तेंदुए बहुतायत में पाए जाते हैं। अन्य स्थानों पर शिकार एवं अन्य पर्यावरणीय कारकों की वजह से इनकी संख्या काफी कम हो गई थी। दक्षिण मंगोलिया की 50 वर्षीय शिक्षिका बयारजारगल आगवांतसेरेन ने खनन की इस योजना का विरोध शुरू किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि हिम तेंदुए उनकी पहचान हैं। खनन कार्य से यदि हिम तेंदुए समाप्त होते हैं तो उनकी पहचान भी मिट जाएगी। किसानों, चरवाहों एवं स्थानीय ग्रामीणों को लेकर अगवांतसेरेन ने कई स्थानों पर इस योजना का लगातार विरोध किया। बढ़ते जन-विरोध को देखते हुए सरकार ने 34 खदानों के लायसेंस निरस्त कर दिए और 18 लाख एकड़ क्षेत्र को प्राकृतिक संरक्षित पार्क घोषित किया। अगवांतसेरेन को इस कार्य के लिए 2019 में प्रतिष्ठित गोल्डमैन पुरस्कार प्रदान किया गया।

समुद्र के अंदर पाई जाने वाली मूंगे की चट्टानें (कोरल रीफ) कई समुद्री जीवों के लिए प्राकृतिक आवास तथा प्रजनन स्थल होती हैं। पिछले 30-40 वर्षों में प्रदूषण के कारण लगभग आधी कोरल रीफ समाप्त हो गई हैं। इस समस्या से निपटने हेतु दो युवाओं - सेम टीचर तथा गैटोर हाल्पर्न - ने केरेबियन द्वीप के बहामास नामक स्थान पर 14 करोड़ रुपए की लागत से दुनिया का पहला व्यावसायिक कोरल-रीफ फार्म प्रारंभ किया। फार्म में कोरल रीफ के छोटे-छोटे टुकड़े समुद्र से लाकर ज़मीन पर बनी पानी की टंकियों में उगाए जाते हैं। इन टंकियों में कोरल के टुकड़े 50 गुना तेज़ी से बढ़ते हैं। उगे हुए टुकड़ों को समुद्र में डाल दिया जाता है।

वाहनों से पैदा वायु प्रदूषण को थोड़ा नियंत्रित करने हेतु लंदन में प्रदूषण फैलाने वाले वाहनों पर 8 अप्रैल से प्रदूषण टैक्स लगाया गया। लंदन के मध्य में अल्ट्रा-लो-टूरिज़्म ज़ोन बनाया गया जिसमें प्रवेश करने पर प्रदूषण फैलाने वाले वाहनों को 9000 रुपए तक टैक्स देना होगा।

पर्यावरण में कार्बन उत्सर्जन कम करने एवं ईंधन की बचत करने हेतु सिंगापुर में छत पर बगीचे वाली बसें शुरू की गईं। अभी सिंगापुर के चार मार्गों पर दस बसें चलाई जा रही हैं एवं धीरे-धीरे इनकी संख्या 400 तक बढ़ाई जाएगी। प्रत्येक बस से कार्बन उत्सर्जन में 52 प्रतिशत कमी तथा 25 प्रतिशत ईंधन बचने का अनुमान है।

प्रदूषण की सही ढंग से रोकथाम नहीं करने एवं इसके कारण स्वास्थ्य बिगड़ने से मांट्रल (फ्रांस) की प्रशासनिक अदालत में एक मां-बेटी ने याचिका दायर कर सरकार से 1.25 करोड़ रुपए के हर्जाने की मांग की।

अधिकांश विकसित देश अपना प्लास्टिक व इलेक्ट्रॉनिक

कचरा विकासशील देशों को भेज देते हैं। कई देश इस खतरनाक कचरे का अवैज्ञानिक तरीके से निपटान करते हैं जिससे पर्यावरण प्रदूषित होता है तथा मानव स्वास्थ्य प्रभावित होता है। इस खतरनाक सच्चाई को जानकर मलेशिया की महिला पर्यावरण मंत्री यिओ बी यीन ने 3000 मीट्रिक टन कचरा अमेरिका, चीन, ब्रिटेन, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया सहित अन्य देशों को वापस भेजने का निर्णय लिया।

पानी पर्यावरण का महत्वपूर्ण भाग है परंतु इसकी उपलब्धता घटती जा रही है। इसी संदर्भ में सूखे से प्रभावित ऑस्ट्रेलिया के शहर सिडनी में जल प्रतिबंध नियमों के तहत जल खुला छोड़ना अपराध घोषित किया गया। न्यू साउथ वेल्स सरकार के अनुसार यह नियम जून से लागू कर दिया गया है।

जंगल एवं पेड़ भी पर्यावरण के अहम भाग होते हैं। अतः उनको बचाने के प्रयास भी सराहनीय है। ब्रिटिश कोलंबिया प्रान्त (कनाडा) के डार्कवुड नामक संरक्षित क्षेत्र में पेड़ पौधों एवं जीवों की 40 दुर्लभ प्रजातियां पाई जाती हैं। नेचर कंज़रवेंसी ऑफ कनाडा नामक एक स्वैच्छिक संगठन इस क्षेत्र की देखभाल करता है। इस क्षेत्र का लगभग 80 वर्ग कि.मी. का भाग किसी की निजी मिल्कियत में था जो संरक्षण कार्य में बाधा पैदा करता था। इस परेशानी को देखकर उपरोक्त संगठन ने जुलाई 2019 में यह निजी मिल्कियत का भाग 104 करोड़ रुपए में खरीद लिया एवं संरक्षण का कार्य बेहतर तरीके से किया।

लगभग ऐसा ही स्कॉटलैंड में भी हुआ। यहां एक पहाड़ी पर देवदार के प्राचीन पेड़ बड़ी संख्या में लगे हैं। सरकारी रिकॉर्ड में यह पहाड़ी किसी की निजी संपत्ति के रूप में दर्ज थी। पहाड़ी के आसपास बसे लोगों को यह डर हमेशा बना रहता था कि संपत्ति का मालिक कभी भी देवदार के प्राचीन पेड़ों को कटवा देगा। इन प्राचीन पेड़ों को बचाने हेतु लोगों ने एक ट्रस्ट बनाया। ट्रस्ट के माध्यम से धन एकत्र करके 15 करोड़ रुपए में पहाड़ी को ही खरीद लिया। ट्रस्ट के लोग अब देवदार पेड़ों को तो बचा ही रहे हैं, साथ में अन्य पेड़ पौधे भी लगा रहे हैं ताकि पूरी पहाड़ी हरी-भरी हो जाएं।

जापान के हिरोशिमा तथा नागासाकी पर गिराए गए परमाणु बमों से पैदा विकिरण के कारण ज़्यादातर पेड़ क्षतिग्रस्त हो गए थे। वर्तमान में 4 कि.मी. के क्षेत्र में 46 में से 30 पेड़ ज़्यादा क्षतिग्रस्त पाए गए। इन सभी पेड़ों को बचाने हेतु अगस्त 2019 तक लगभग 1.60 करोड़ रुपए की राशि एकत्र हो गई थी। पेड़ों को बचाने हेतु प्रभावित भाग हटाए जाएंगे एवं रसायनों का लेप लगाया जाएगा ताकि भविष्य में और संक्रमण न हो। कमज़ोर तनों एवं शाखाओं को सहारा देकर जड़ों में खाद भी दी जाएगी।

ब्रिटेन के कई शहरों (डार्लिंगटन, बर्किंगहैम, ग्लॉचेस्टर, वार्विकशावर) में भवन निर्माताओं ने 500 पेड़ों को जालियों से ढंक दिया ताकि पक्षी घोंसला न बनाएं एवं गंदगी न फैले। स्थानीय लोग इस कार्य से नाराज़ हुए एवं इसके विरोध में न्यायालय में याचिका दायर की। विरोध स्वरूप कई स्थानों पर जालियां तोड़ी गई एवं पेड़ों पर हरी पट्टियां बांधी गई। लगातार बढ़ता विरोध देखकर भवन निर्माताओं ने सारे पेड़ों से जालियां हटा लीं।

हमारे देश में हरियाणा, दिल्ली तथा छत्तीसगढ़ में पेड़ बचाने के प्रयास हुए। हरियाणा सरकार ने 24 फरवरी 2019 को विधान सभा में पंजाब भूमि संरक्षण अधिनियम में संशोधन को स्वीकृति प्रदान की थी। इस स्वीकृति से 60 हज़ार एकड़ वन भूमि पर गैर-वानिकी एवं निर्माण कार्य को छूट दी गई। इसके विरोध में फरीदाबाद तथा गुड़गांव में कई प्रदर्शन हुए एवं कहा गया कि इससे अरावली का बड़ा जंगल क्षेत्र समाप्त हो जाएगा। विरोध के मद्देनज़र सुप्रीम कोर्ट ने भी इस पर नाराज़ी व्यक्त करते हुए संशोधन पर रोक लगाई। दिल्ली सरकार ने कहा कि विकास कार्यों के लिए पेड़ काटने की अनुमति तभी मिलेगी जब पेड़ों की कुल संख्या में से 80 प्रतिशत स्थानांतरित किए जाएंगे। इस अधिसूचना पर लोगों से सुझाव भी मांगे गए थे।

जगदलपुर (छत्तीसगढ़) के बेलाडीला में खनन की अनुमति के विरोध में जून में 200 गांवों के लोगों ने कई दिनों तक प्रदर्शन किए। खनन हेतु 20 हज़ार पेड़ काटे जाने थे। कई स्थानों पर तीर-कमान के साथ पेड़ों की पहरेदारी की गई। ***(स्रोत फीचर्स)***

वैकल्पिक ईंधन की ओर भारत के बढ़ते कदम

नरेन्द्र देवांगन

बरसों से दुनिया जिन ऊर्जा स्रोतों को ईंधन के रूप में उपयोग करती आ रही है, वे सीमित हैं। जहां एक ओर उनको बनने में लाखों साल लग जाते हैं, वहीं उनके अत्यधिक दोहन से समय के साथ-साथ वे चुक जाएंगे। ऐसे में आशा की एक नई किरण वैकल्पिक ईंधन के रूप में सामने आई है। वैकल्पिक ईंधन देश के कच्चे तेल के आयात बिल को कम करने में मदद कर सकते हैं। वर्तमान में भारत की अर्थव्यवस्था के मुख्य चालक डीज़ल और पेट्रोल हैं अर्थात भारत की अधिकतम ऊर्जा ज़रूरतें डीज़ल और पेट्रोल से पूरी होती हैं। अब स्थिति को बदलने की दिशा में काम हो रहा है।

विश्व स्तर पर वैकल्पिक ईंधन के रूप में मेथेनॉल का उत्पादन व उपयोग बढ़ रहा है। इसके मुख्य कारण हैं कोयले व प्राकृतिक गैस जैसे कच्चे माल की कमी, तेल की कीमतों में वृद्धि, तेल आयात बिल में कमी करने की ख्वाहिश व प्रदूषण तथा जलवायु परिवर्तन जैसी पर्यावरणीय चिंताएं।

ईंधन के रूप में और रासायनिक उद्योग में मध्यवर्ती पदार्थ रूप में मेथेनॉल का उपयोग ऑटोमोबाइल और उपभोक्ता क्षेत्रों में तेज़ी से बढ़ रहा है। मेथेनॉल अपने उच्च ऑक्टेन नंबर के कारण एक कुशल ईंधन माना जाता है और यह गैसोलीन की तुलना में सल्फर ऑक्साइड्स (एसओएक्स), नाइट्रोजन ऑक्साइड्स (एनओक्स) और कणीय पदार्थ व गैसीय प्रदूषक तत्व कम उत्सर्जित करता है।

'मेथेनॉल अर्थव्यवस्था' का शाब्दिक अर्थ ऐसी अर्थव्यवस्था से है जो डीज़ल और पेट्रोल की बजाय मेथेनॉल के बढ़ते प्रयोग पर आधारित हो। मेथेनॉल अर्थव्यवस्था की अवधारणा को सक्रिय रूप से चीन, इटली, स्वीडन, इस्राइल, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, जापान और कई अन्य युरोपीय देशों द्वारा लागू किया गया है। वर्तमान में चीन में लगभग 9 प्रतिशत परिवहन ईंधन के रूप में मेथेनॉल का इस्तेमाल किया जा रहा है। इसके अलावा इस्राइल, इटली ने पेट्रोल के साथ मेथेनॉल के 15 प्रतिशत मिश्रण की योजना बनाई है।

भारतीय ईंधन में मेथेनॉल की शुरुआत अप्रत्यक्ष रूप से हुई थी, जब बॉयोडीज़ल, मेथेनॉल और गैर खाद्य पौधों से बने तेल जैसे रतनजोत तेल को 2009 में जैव ईंधन हेतु राष्ट्रीय नीति में शामिल किया गया था। मेथेनॉल अर्थव्यवस्था बनाने के पीछे मुख्य उद्देश्य देश की अर्थव्यवस्था के विकास को टिकाऊ बनाना है ताकि वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भावी पीढ़ियों की ज़रूरतों के साथ कोई समझौता न हो।

गैसोलीन में 15 प्रतिशत तक मिश्रण के लिए मेथेनॉल अपेक्षाकृत आसान विकल्प है। यह वाहनों, स्वचालित यंत्रों या कृषि उपकरणों में कोई बदलाव किए बिना वायु गुणवत्ता सम्बंधी तत्काल लाभ प्रदान करता है। हालांकि दो अन्य अनिवार्यताओं, ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन में कमी और ईंधन आयात से विदेशी मुद्रा की हानि में कमी के संदर्भ में भारत में अधिक मेथेनॉल क्षमता स्थापित करना आवश्यक होगा।

मोटे तौर पर देखा जाए तो मेथेनॉल ईंधन हो या आजकल का मूल स्रोत हाइड्रोकार्बन हो इनमें वनस्पति जगत का मुख्य योगदान है। स्पष्ट है कि तमाम कार्बनिक पदार्थों के विश्लेषण से मेथेनॉल प्राप्त करना संभव है। जैव पदार्थ का बेहतरीन उपयोग कर 75 प्रतिशत तक मेथेनॉल प्राप्त किया जा सकता है। धरती की हरियाली से प्राप्त मेथेनॉल की उपयोगिता को भारतीय वैज्ञानिकों ने समझा और उसका उपयोग वाहनों को गति देने के लिए कर दिखाया। परीक्षणों में पाया गया है कि मेथेनॉल को 12 प्रतिशत की दर से मूल ईंधन में मिलाकर वाहन चलाना संभव है।

वर्ष 1989 में नई दिल्ली स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी में वैज्ञानिकों ने पेट्रोल में मेथेनॉल मिलाकर एक स्कूटर पहले आईआईटी कैम्पस में बतौर परीक्षण और

फिर दिल्ली की सड़कों पर चलाया। इस सफलता से प्रेरित होकर भारतीय पेट्रोलियम संस्थान के वैज्ञानिकों ने मेथेनॉल-पेट्रोल के मिश्रण से पहली खेप में 15 स्कूटर और बाद में कई स्कूटर चलाए। इससे प्रभावित होकर कई निजी कंपनियां सामने आईं। वड़ोदरा में तो इनकी प्रायोगिक तौर पर बिक्री भी की गई।

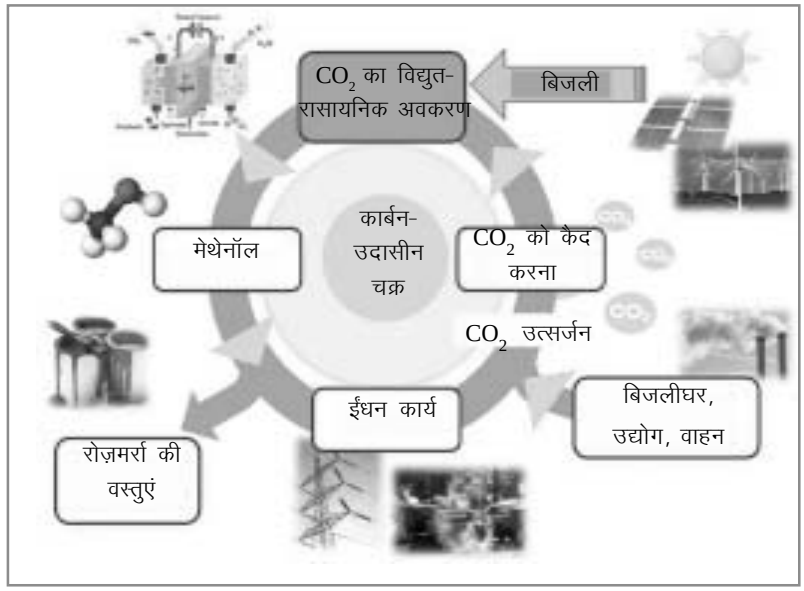

पेट्रोल के अलावा मेथेनॉल को डीज़ल में मिलाकर भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है। डीज़ल-मेथेनॉल के इस रूप को 'डीज़ोहॉल' नाम दिया गया है। भारतीय पेट्रोलियम संस्थान द्वारा डीज़ल में 15 से 20 प्रतिशत तक मेथेनॉल मिलाकर बसें भी चलाई जा चुकी हैं। भारत सहित कई अन्य देशों में डीज़ोहॉल को लेकर व्यावसायिक परीक्षण भी किए जा रहे हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि डीज़ोहॉल अधिक ऊर्जा क्षमता वाला ईंधन होने के अलावा प्रदूषण भी कम पैदा करता है। कहना न होगा कि यह आर्थिक रूप से बेहतर और पर्यावरण हितैषी भी है।

वर्तमान में भारत को प्रति वर्ष 2900 करोड़ लीटर पेट्रोल और 9000 करोड़ लीटर डीज़ल की ज़रूरत होती है। भारत दुनिया में छठवां सबसे ज़्यादा तेल उपभोक्ता देश है। 2030 तक यह खपत दुगनी हो जाएगी और भारत दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा तेल उपभोक्ता देश बन जाएगा।

इसके अलावा भारत दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा कार्बन डाईऑक्साइड उत्सर्जक देश है। दिल्ली जैसे शहरों में लगभग 30 प्रतिशत प्रदूषण वाहनों से होता है और सड़क पर कारों और अन्य वाहनों की बढ़ती संख्या प्रदूषण की इस स्थिति को आने वाले दिनों में और भी विकट बनाएगी। इसलिए बढ़ते आयात बिल और प्रदूषण की समस्या के समाधान के लिए भारत का नीति आयोग देश की अर्थव्यवस्था को मेथेनॉल अर्थव्यवस्था में बदलने पर विचार कर रहा है।

हमारे देश में मेथेनॉल अर्थव्यवस्था एक व्यावहारिक, आवश्यक और किफायती रूप लिए उभर रही है। गर्व की बात है कि हमने प्रति वर्ष दो मीट्रिक टन मेथेनॉल पैदा करने की क्षमता हासिल कर ली है। उम्मीद की जा रही है कि वर्ष 2030 तक भारत के ईंधन बिल में 30 प्रतिशत तक की कटौती हो जाएगी, जो मेथेनॉल के दम पर ही संभव होगी। भारत द्वारा मूल ईंधन में 15 प्रतिशत मेथेनॉल मिलाए जाने का कार्यक्रम बनाया जा रहा है। इसके लिए इस्राइल जैसे देशों से मदद लेने की भी संभावना है। नीति आयोग द्वारा मेथेनॉल अर्थव्यवस्था फंड भी निर्धारित करने की योजना है जिसमें मेथेनॉल आधारित परियोजनाओं के लिए चार-पांच हज़ार करोड़ रुपए का प्रावधान है।

देश में बढ़ते प्रदूषण और कच्चे तेल के बढ़ते आयात बिल को देखते हुए भारत के लिए मेथेनॉल का उपयोग न सिर्फ ज़रूरी है बल्कि पर्यावरण की मांग भी है। यदि मेथेनॉल का उपयोग भारत में व्यापक पैमाने पर शुरू कर दिया जाता है तो भारत में होने वाला विकास टिकाऊ विकास हो जाएगा। ***(स्रोत फीचर्स)***

सौर ऊर्जा की मदद से ईंधन निर्माण

बढ़ता वैश्विक तापमान और जलवायु परिवर्तन आज काफी गंभीर समस्या है। इसे कम करने के प्रयास में लंबे समय से वैज्ञानिक जीवाश्म ईंधनों के विकल्प के रूप में, सौर ऊर्जा का दोहन कर, मीथेन बनाने के प्रयास कर रहे हैं। मिशिगन युनिवर्सिटी के ज़ेटियन माई और उनके साथियों का हालिया शोध इसी दिशा में एक और कदम है। उन्होंने तांबा और लोहा आधारित ऐसा उत्प्रेरक विकसित किया है जो सौर ऊर्जा का उपयोग कर कार्बन डाईऑक्साइड को मीथेन में परिवर्तित करता है, जिसे ईंधन के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

हाल ही में अमेरिका में बिजली पैदा करने के प्राथमिक स्रोत के रूप में मीथेन ने कोयले को मात दी है। मीथेन से बिजली पैदा करने की प्रक्रिया में होता यह है कि मीथेन जलने पर कार्बन डाईऑक्साइड और पानी में बदल जाती है और इस प्रक्रिया में ऊष्मा उत्पन्न होती है। इस ऊष्मा का उपयोग बिजली बनाने में किया जाता है।

सौर ऊर्जा की मदद से मीथेन बनाने की प्रक्रिया इसके विपरीत है। इसमें विद्युत की मदद से कार्बन डाईऑक्साइड और पानी को मीथेन में बदला जाता है। हालांकि इस तरह मीथेन बनाना इतना आसान नहीं है। कार्बन डाईऑक्साइड के एक अणु में आठ इलेक्ट्रॉन और चार प्रोटॉन जुड़ने पर मीथेन का एक अणु बनता है। हर इलेक्ट्रॉन और हर प्रोटॉन को अणु में जोड़ने के लिए ऊर्जा की ज़रूरत होती है।

वैज्ञानिक यह तो पहले ही पता लगा चुके थे कि जब तांबे के कण प्रकाश-अवशोषक पदार्थों के साथ जुड़ते हैं तब वे कार्बन डाईऑक्साइड को अधिक ऊर्जा वाले यौगिकों में परिवर्तित कर देते हैं। लेकिन इसमें समस्या यह थी कि इनकी दक्षता और अभिक्रिया दर कम थी। इसलिए वे तांबे और अन्य धातुओं की जोड़ियों को प्रकाश-अवशोषकों के साथ जोड़ने का प्रयास कर रहे थे।

इसी प्रयास में माई और उनके साथियों ने सिलिकॉन पापड़ (सिलिकॉन अर्धचालक की पतली चादर) के ऊपर प्रकाश-अवशोषक गैलियम नाइट्राइड से बने नैनोवायर विकसित किए। नैनोवायर पर उन्होंने विद्युत-लेपन करके तांबा और लोहे के 5-10 नैनोमीटर बड़े कण जोड़े। इस तरह तैयार सेटअप ने सूक्ष्म सौर-सेलों की तरह काम किया, यानी सूर्य के प्रकाश को अवशोषित कर उसे विद्युत ऊर्जा में बदल दिया। इसका उपयोग कार्बन डाइऑक्साइड को मीथेन में परिवर्तित करने के लिए किया गया।

तैयार सेटअप ने प्रकाश और कार्बन डाईऑक्साइड व पानी की मौजूदगी में प्रकाश में मौजूद 51 प्रतिशत ऊर्जा को मीथेन में परिवर्तित किया। *प्रोसिडिंग्स ऑफ दी नेशनल एकेडमी ऑफ साइंसेज़* में प्रकाशित रिपोर्ट के मुताबिक तांबा-लोहा आधारित यह नया उत्प्रेरक अब तक की सबसे तीव्र दर से और सबसे अधिक ऊर्जा उत्पन्न करने वाला है।

माई का कहना है कि इस सेटअप का एक और फायदा है - इसमें इस्तेमाल किए गए प्रकाश-अवशोषक और उत्प्रेरक सस्ते और आसानी से उपलब्ध हैं, और उद्योगों में उपयोग किए जा रहे हैं। लेकिन मीथेन उत्पादन को व्यावहारिक रूप में लाने के लिए अभी उत्पादन दक्षता और दर, दोनों ही बढ़ाने की ज़रूरत है। ***(स्रोत फीचर्स)***

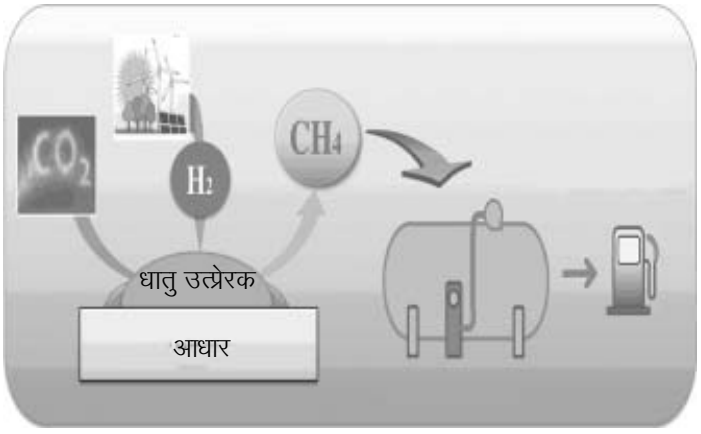

एक अंधविश्वास का इतिहास

डॉ. जी. एल. कृष्ण

भारत सरकार के आयुष मंत्रालय ने हाल में एक परामर्श पत्र जारी किया है जिसमें उसने लंबे समय से चले आ रहे एक अधिकारिक मत को दोहराया है: "आयुर्वेद के सिद्धांतों, अवधारणाओं और तरीकों की तुलना आधुनिक चिकित्सा प्रणाली से कदापि नहीं की जा सकती।" यह मत इन दो प्रणालियों के बीच स्पष्ट विभाजन को व्यक्त करता है और परोक्ष रूप से वैज्ञानिक पद्धति की सार्वभौमिकता पर सवाल खड़े करता है। इस आलेख में यह बताने की कोशिश की गई है कि आयुर्वेद की दुनिया में इस मत को व्यापक मान्यता कैसे मिली है।

अंधविश्वास काफी दिलचस्प हो सकते हैं, खास तौर से तब जब वे प्रभावशाली लोगों के दिमाग में बसे हों। यह कहानी एक ऐसे ही अंधविश्वास की है जो बीसवीं सदी के सारे आयुर्वेदिक विचारकों पर हावी रहा है।

जिस अंधविश्वास की बात हो रही है, वह मोटे तौर पर निम्नानुसार है: प्राचीन भारतीय ऋषियों (मनीषियों), जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का प्रतिपादन किया, के पास विशेष यौगिक शक्तियां थीं; इन विशेष शक्तियों ने उन्हें प्रकृति को नज़दीक से जांचने-परखने तथा उसके रहस्यों को उजागर करने में समर्थ बनाया था। इसके बाद इन रहस्यों को उन्होंने अपने दर्शन के ग्रंथों में सूक्तियों के रूप में संहिताबद्ध किया। कहने का आशय यह है कि भारतीय ऋषियों ने विज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए खोजबीन की बाह्य तकनीकों का सहारा न लेकर आंतरिक यौगिक पद्धतियों का सहारा लिया, जो सिर्फ उन लोगों की पहुंच में थीं जिन्होंने इनकी साधना की हो। अतः भारतीय दार्शनिक साहित्य उन्नत वैज्ञानिक ज्ञान से भरा है जिसमें से काफी सारे की पुष्टि तो आधुनिक भौतिक शास्त्र की विधियों से हो ही चुकी है। यदि किसी मामले में पुष्टि नहीं हुई है तो समझदारी इसी में है कि प्रतीक्षा करें।

यह तो ज़ाहिर है कि यह अंधविश्वास क्यों है। एक प्राचीन संस्कृत श्लोक (शांतारक्षिता का *तत्वसंग्रह*, अध्याय 26, श्लोक 3149) इस विचारधारा की समस्या को बखूबी उभारता है: *सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।, अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदस्तयोः कथम।।* ("यदि बुद्ध को सर्वज्ञाता माना गया है, तो कपिल को क्यों नहीं? यदि ये दोनों बराबर के सर्वज्ञाता हैं, तो फिर ये आपस में असहमत क्यों हैं?")

सीधा-सा तथ्य यह है कि एक ही विषय को लेकर दार्शनिकों में अलग-अलग मत पाए जाते हैं। इससे यह स्वयंसिद्ध है कि उनके निष्कर्ष अंतिम होने का दावा नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में, जब यौगिक पद्धति तक सबकी पहुंच आसान नहीं है, तो किसी मत को मानना दार्शनिक विशेष के प्रति निजी प्रीति का मामला रह जाता है, न कि उसके दर्शन में सत्य का परिमाण।

ऐसे में, सहज बुद्धि का स्थान अथॉरिटी ले लेती है और प्रत्यक्ष खोजबीन का स्थान लिखित शब्द ले लेते हैं। अटकलों को, यहां तक सुविचारित अटकलों को भी यौगिक अंतर्ज्ञान का जामा पहनाने की प्रवृत्ति का परिणाम सहज बुद्धि के निजीकरण और संपूर्ण बौद्धिक अशक्तिकरण के रूप में सामने आता है। ये दोनों ही संजीदा विज्ञान कर्म का गला घोंटने के लिए पर्याप्त हैं।

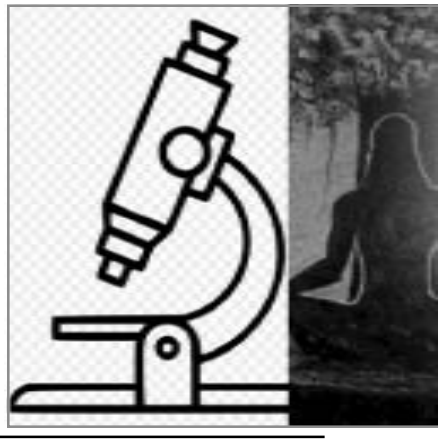

आयुर्वेद के क्षेत्र में इस विज्ञान-निषेध विश्व दृष्टि की ऐतिहासिक जड़ों की खोज करना लाभप्रद होगा। कहानी लगभग 100 वर्ष पहले की है। 1921 में

मद्रास प्रेसिडेंसी की तत्कालीन सरकार ने एक समिति का गठन किया था। इस समिति को देसी चिकित्सा प्रणाली को मान्यता तथा प्रोत्साहन देने के सवाल पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने का काम सौंपा गया था। मुहम्मद उस्मान की अध्यक्षता में इस समिति ने अनुकरणीय काम किया और एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की, जो आज भी आयुर्वेदिक कामकाज का एक जीवंत चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से मूल्यवान है। कैप्टन जी. श्रीनिवास मूर्ति समिति के सचिव थे। वे आधुनिक चिकित्सा में प्रशिक्षित एक प्रतिष्ठित चिकित्सक थे। उनके द्वारा प्रस्तुत मेमोरेंडम समिति की रिपोर्ट में संलग्न था। यह संभवतः आयुर्वेद को पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली और आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के रूबरू खड़ा करने का पहला औपचारिक प्रयास था। विडंबना यह है कि यह उपरोक्त विज्ञान-विरोधी नज़रिए को संस्थागत स्वरूप देने का भी प्रयास था। लगभग 100 साल पहले मूर्ति ने अनजाने में जो बात लिखी थी, वह आज आयुर्वेद जगत का प्रचलित नज़रिया बन गई है: "हिंदुओं ने जिस पद्धति से चीज़ों को जानने की कोशिश की वह ज्ञानेंद्रियों के दायरे से परे है और वह पश्चिम के तरीके से एक खास मायने में भिन्न है; आधुनिक विज्ञान में हम अपनी ज्ञानेंद्रियों की सीमाओं से पार पाने के लिए सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी और वर्णक्रमदर्शी जैसे बाह्य उपकरणों का सहारा लेते हैं; दूसरी ओर हिंदुओं ने वही प्रभाव प्राप्त करने के लिए अपनी ज्ञानेंद्रियों को बाह्य साधनों का सहारा न देकर, अपने आंतरिक संवेदी अंगों को उन्नत बनाने की कोशिश की, ताकि उनकी अनुभूति का दायरा किसी भी वांछित सीमा तक बढ़ जाए; और यह उन्नति लाने का तरीका यह था कि अपनी इंद्रियों का अभ्यास गुरू द्वारा शिष्य को बताए गए विशेष तरीके से किया जाए।" भारतीय दार्शनिक विचारों और आधुनिक भौतिकी के बीच कुछ समानताएं बताने का प्रयास करने के उपरांत वे उम्मीद जताते हैं कि "जब हम देखते हैं कि कैसे इनमें से कई सिद्धांतों को आधुनिक विज्ञान की ताज़ा घटनाओं ने सही साबित कर दिया है, तो हम यह महसूस करने से इन्कार नहीं कर सकते कि जिस तरह से कुछ सिद्धांत सही साबित हो चुके हैं, वही अन्य सिद्धांतों को लेकर भी होगा।"

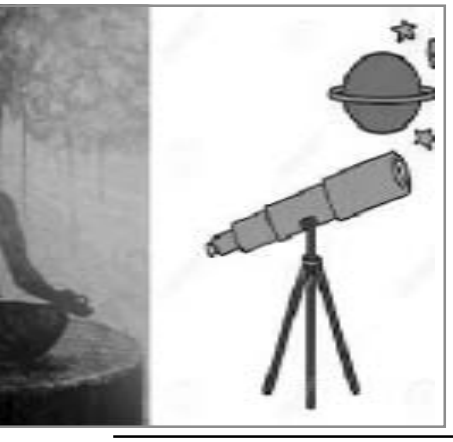

इस बात को न तो संजीदा विज्ञान का समर्थन हासिल है और न ही संजीदा दर्शन शास्त्र का, लेकिन आयुर्वेद जगत में इसे पूरी स्वीकृति मिल गई है। अचंता लक्ष्मीपति और पंडित शिव शर्मा जैसे नामी-गिरामी लोगों ने इस विचार का समर्थन किया है। आजकल के ज़माने का नया 'फितूर' है कि क्वांटम भौतिकी के विचारों को भारतीय दार्शनिक साहित्य में 'खोज' निकाला जाए। इससे भी उपरोक्त धारणा को समर्थन मिला है।

और तो और, आयुर्वेद का पाठ्यक्रम भी इसी आधार पर बनाया गया और इसके चलते उक्त धारणा आयुर्वेद का अधिकारिक नज़रिया बन गई। इस धारणा का सबसे गंभीर परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेदिक सिद्धांतों को वैज्ञानिक छानबीन के दायरे से बाहर रखा गया और वह भी इस काल्पनिक उम्मीद में कि विज्ञान को अभी पर्याप्त प्रगति करनी है, उसके बाद ही वह इन सिद्धांतों की जांच के काबिल हो पाएगा। इस तरह से अधिकारिक आयुर्वेद वैज्ञानिक पद्धति की सार्वभौमिकता के साथ बेमेल हो गया।

रिचर्ड फाइनमैन ने कहा था, "विशेषज्ञों की अज्ञानता में विश्वास का नाम विज्ञान है।" आयुर्वेद को संस्थागत अंधविश्वास की जकड़न से मुक्त कराना इसी बात पर निर्भर है कि क्या आयुर्वेद के विद्यार्थी इस विश्वास में समर्थ हैं। आयुर्वेद का एक प्राक्विज्ञान से आगे बढ़कर एक पूर्ण विज्ञान बनना इसी बात पर निर्भर है कि इन संस्थागत अंधविश्वासों को कितने कारगर ढंग से चुनौती दी जाती है। यदि चुनौती नहीं दी गई तो यह महान चिकित्सकीय विरासत एक छद्म विज्ञान में विघटित हो जाएगी। हमें इस आसन्न खतरे के प्रति सचेत होना चाहिए। ***(स्रोत फीचर्स)***

स्पिट्ज़र टेलीस्कोप की महान उपलब्धियां

प्रदीप

हैंस लिपरशे द्वारा दूरबीन के आविष्कार के बाद गैलीलियो ने स्वयं दूरबीन का पुनर्निर्माण करके पहली बार खगोलीय अवलोकन में उपयोग किया था। तब से लगभग चार शताब्दियां बीत चुकी हैं। तब से अब तक दूरबीनों ने खगोल विज्ञान में कई आकर्षक और पेचीदा खोजों को संभव बनाया है। इनमें हमारे सूर्य से परे अन्य तारों की परिक्रमा कर रहे ग्रहों की खोज, ब्रह्मांड के फैलने की गति में तेज़ी के सबूत, डार्क मैटर और डार्क एनर्जी का अस्तित्व, क्षुद्र ग्रहों और धूमकेतुओं वगैरह की खोज शामिल है।

आज बहुत-सी विशालकाय दूरबीनों का निर्माण किया जा चुका है। इनमें कई धरती पर लगी हैं तो कुछ अंतरिक्ष में भी स्थापित हैं। खगोलीय पिंड दृश्य प्रकाश के अलावा कई तरह के विद्युत चुंबकीय विकिरण (इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक रेडिएशन) का भी उत्सर्जन करते हैं। दूरस्थ खगोलीय पिंडों से उत्सर्जित विद्युत-चुंबकीय विकिरण का ज़्यादातर हिस्सा पृथ्वी का वायुमंडल सोख लेता है और इस वजह से पृथ्वी पर स्थित विशाल प्रकाशीय (ऑप्टिकल) दूरबीनों से उन खगोलीय पिंडों को भलीभांति नहीं देखा जा सकता है। पृथ्वी की वायुमंडलीय बाधा को दूर करने एवं दूरस्थ खगोलीय पिंडों के सटीक प्रेक्षण के लिए 'अंतरिक्ष दूरबीनों' का निर्माण किया गया है। अमेरिकी अंतरिक्ष एजेंसी नासा ने चार बड़ी दूरबीनों या वेधशालाओं को अंतरिक्ष में उतारा है - हबल स्पेस टेलीस्कोप, कॉम्पटन गामा रे आब्ज़र्वेटरी (सीजीआरओ), चंद्रा एक्स-रे टेलीस्कोप और आखरी स्पिट्ज़र टेलीस्कोप।

30 जनवरी 2020 को अमेरिकी अंतरिक्ष एजेंसी नासा ने 'स्पिट्ज़र टेलीस्कोप मिशन' की समाप्ति की घोषणा कर दी। हालांकि इसका निर्धारित जीवनकाल केवल ढाई वर्ष था फिर भी इसने लगभग 16 वर्षों तक अपनी भूमिका दक्षतापूर्वक निभाई। गौरतलब है कि स्पिट्ज़र स्पेस टेलीस्कोप 950 किलोग्राम वज़नी एक ऐसा खगोलीय टेलीस्कोप है जिसे अंतरिक्ष में एक कृत्रिम उपग्रह के रूप में स्थापित किया गया है, इसलिए यह सूर्य के चारों ओर कक्षा में चक्कर लगाता है। यह ब्रह्मांड की विभिन्न वस्तुओं की इन्फ्रारेड प्रकाश में जांच करता है। दरअसल, स्पिट्ज़र अंतरिक्ष में वह सब कुछ देखने में सक्षम था जिसे प्रकाशीय दूरबीनों के जरिए नहीं देखा जा सकता है। अंतरिक्ष का ज़्यादातर हिस्सा गैस और धूल के विशाल बादलों से भरा है जिसके पार देखने की क्षमता हमारे पास नहीं हैं। मगर इन्फ्रारेड प्रकाश गैस और धूल के बादलों की बड़ी से बड़ी दीवारों को भी भेद सकता है। स्पिट्ज़र अपने विशाल टेलीस्कोप और क्रायोजनिक सिस्टम से ठंडे रखे जाने वाले तीन वैज्ञानिक उपकरणों के साथ अब तक का सबसे बड़ा इन्फ्रारेड टेलीस्कोप है।

स्पिट्ज़र को 25 अगस्त, 2003 को अमेरिका के केप कैनवरेल से डेल्टा रॉकेट के जरिए अंतरिक्ष में भेजा गया था। शुरुआत में इसका नाम 'स्पेस इन्फ्रारेड टेलीस्कोप फेसिलिटी' था लेकिन नासा की परंपरा के अनुसार ऑपरेशन के सफल प्रदर्शन के बाद बीसवीं सदी के एक महान खगोलविद लिमन स्पिट्ज़र के सम्मान में 'स्पिट्ज़र' नाम दिया गया। गौरतलब है कि लिमन स्पिट्ज़र 1940 के दशक में अंतरिक्ष दूरबीनों की अवधारणा को बढ़ावा देने वाले अग्रणी व्यक्तियों में से एक थे। स्पिट्ज़र टेलीस्कोप में इन्फ्रारेड ऐरे कैमरा, इन्फ्रारेड स्पेक्ट्रोग्राफ और मल्टीबैंड इमेजिंग फोटोमीटर नामक तीन उपकरणों को रखा गया था। इन्फ्रारेड चूंकि एक तरह का गर्म विकिरण होता है,

इसलिए इन तीनों उपकरणों को विकिरण से भस्म होने से बचाने और ठंडा रखने के लिए एब्सोल्यूट ज़ीरो यानी शून्य से 273 डिग्री सेल्सियस से कुछ ही अधिक तापमान रखने के लिए तरल हीलियम का इस्तेमाल किया गया था। इसके अलावा सौर विकिरण से बचाव के लिए स्पिट्ज़र को सौर कवच से भी सुसज्जित किया गया था।

यों तो स्पिट्ज़र टेलीस्कोप द्वारा की गई खोजों की सूची काफी लंबी है, मगर उसके ज़रिए की गई प्रमुख खोजों की चर्चा ज़रूरी है। इस टेलीस्कोप ने न केवल ब्रह्मांड की सबसे पुरानी निहारिकाओं के बारे में हमें जानकारी उपलब्ध कराई है बल्कि शनि के चारों ओर मौजूद एक करोड़ तीस लाख किलोमीटर के दायरे में एक नए वलय का भी खुलासा किया है। इसने धूल कणों के विशालकाय भंडार के माध्यम से नए तारों और ब्लैक होल्स का भी अध्ययन किया। स्पिट्ज़र ने हमारे सौर मंडल से परे अन्य ग्रहों की खोज में सहायता की, जिसमें पृथ्वी के आकार वाले सात ग्रह जो ट्रैपिस्ट-1 नामक तारे के चारों ओर परिक्रमा कर रहे थे, के बारे में पता लगाना भी शामिल है। इसके अलावा क्षुद्रग्रहों और ग्रहों के टुकड़ों, बेबी ब्लैक होल्स, तारों की नर्सरियों यानी नेब्युला (जहां नए तारों का निर्माण होता है) की खोज, अंतरिक्ष में 60 कार्बन परमाणुओं से बनी त्रि-आयामी और गोलाकार संरचनाओं यानी बकीबॉल्स की खोज, निहारिकाओं के विशाल समूहों की खोज, हमारी आकाशगंगा (मिल्की-वे) का सबसे विस्तृत मानचित्रण आदि स्पिट्ज़र टेलीस्कोप की प्रमुख उपलब्धियों में शामिल हैं।

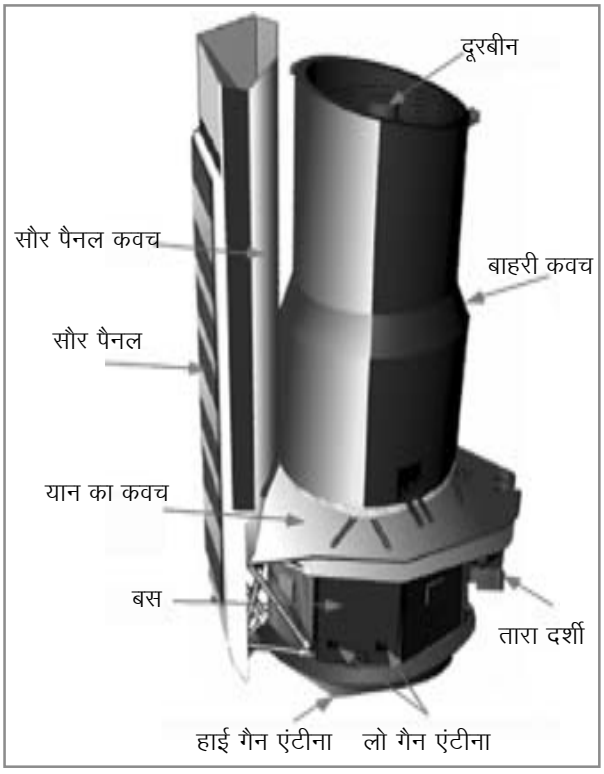

स्पिट्ज़र को ठंडा रखने के लिए तरल हीलियम बेहद ज़रूरी था, लेकिन 15 मई 2009 को इसका तरल हीलियम का टैंक खाली हो गया। वर्तमान में इसके ज़्यादातर उपकरण खराब हो चुके हैं। अलबत्ता, इसके दो कैमरे अभी भी काम कर रहे हैं और स्पिट्ज़र सूर्य की परिक्रमा कर रहा है। नासा ने स्पिट्ज़र मिशन की हालिया समीक्षा की और पाया कि इसके कैमरे अभी भी काम कर रहे हैं। मगर इस टेलीस्कोप को अब संचालन के योग्य नहीं पाया गया, तो इसे रिटायर करने का फैसला लिया। नासा डीप स्पेस नेटवर्क के जरिए प्राप्त स्पिट्ज़र के सभी आंकड़ों के विश्लेषण में लगा हुआ है।

नासा में खगोल भौतिकी विभाग के निदेशक पॉल हर्ट्ज़ कहना है कि "अच्छा होगा अगर हमारे सभी टेलीस्कोप हमेशा के लिए कार्य करने में सक्षम होते, लेकिन यह संभव नहीं है। 16 साल से अधिक समय तक स्पिट्ज़र ने खगोलविदों को अपनी सीमाओं से आगे बढ़कर अंतरिक्ष में काम करने का मौका दिया।" कुल मिलाकर, स्पिट्ज़र ने अपने 140 करोड़ डॉलर के मिशन के तहत 8 लाख आकाशीय लक्ष्यों की छानबीन की।

बहरहाल, ब्रह्मांड की गहराइयों में झांकने के लिए और खोजों के इस सिलसिले को जारी रखने के लिए स्पिट्ज़र की जगह लेने को तैयार है लंबे समय से प्रतीक्षित इसका उत्तराधिकारी बेहद शक्तिशाली 'जेम्स वेब स्पेस टेलीस्कोप'। हालांकि जेम्स वेब और स्पिट्ज़र की कार्यप्रणाली में ज़मीन-आसमान का अंतर होगा, मगर जेम्स वेब भी स्पिट्ज़र की भांति इन्फ्रारेड की खिड़की का इस्तेमाल करके ब्रह्मांड के अध्ययन में सक्षम होगा। अलविदा स्पिट्ज़र! ***(स्रोत फीचर्स)***

विज्ञान शिक्षा का मकसद और पद्धति

आर. एन. के. बमज़ाई

आज़ादी के बाद के दशकों में हमारे देश ने काफी विकास किया है, फिर भी उच्च शिक्षा और विज्ञान व टेक्नॉलॉजी सम्बंधी नीतियों के निर्माण और संशोधन के बाद अभी भी काफी कुछ करना बाकी है। यह आलेख उच्च शिक्षा की पिछली नीतियों और सीखने के परिणाम आधारित उच्च शिक्षा से सम्बंधित है। यहां एक विशिष्ट उदाहरण की मदद से परिणाम आधारित यूजी और पीजी शिक्षा के बारे में कुछ सुझाव दिए गए हैं।

"विज्ञान और वैज्ञानिकों से समाज एवं सरकार को तथा सरकार व समाज से वैज्ञानिकों को क्या उम्मीदें हैं," यह सवाल जितना महत्वपूर्ण है उतना ही महत्वपूर्ण महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षण की गुणवत्ता का सवाल भी है। देश के युवाओं को उच्च शिक्षा का उद्देश्य अस्पष्ट है। क्योंकि उच्च शिक्षा या तो बेहतरीन कैरियर हेतु प्रमाण पत्र हासिल करने की एक प्रक्रिया बनकर रह गई है या फिर इसने ऐसा मानव संसाधन पैदा किया है जो एक अनुपयोगी संपदा बनकर रह गया है। जनता की राय भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करती है।

व्यवहार में उच्च शिक्षा को विज्ञान और प्रौद्योगिकी (एसएंडटी) नीतियों से अलग करना, खास तौर से विज्ञान शिक्षा और उसके अपेक्षित परिणामों के सम्बंध में, काफी निराशाजनक रहा है। इसके अलावा राजनीतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक, सामाजिक और यहां तक कि नौकरशाही संस्थानों जैसे कई स्तरों पर स्पष्टता और निष्पक्षता की काफी कमी रही है। नाभिकीय उर्जा व अंतरिक्ष और कुछ हद तक डेयरी एवं कृषि के क्षेत्र को छोड़ दें तो हमारे पास, खासकर जीव विज्ञान में, ज़्यादा नया ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है। आम तौर पर जिस ज्ञान का दावा किया जा रहा है वह दरअसल पुराने ज्ञान का पुनर्निर्माण भर है।

जीव विज्ञान की इस स्थिति का कारण कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित वैज्ञानिक-राजनीतिज्ञ सम्बंधों के इतिहास में दफन है जिसके चलते चुनिंदा क्षेत्रों में वैश्विक दृश्यता हासिल हुई है। इसके अलावा, 1980 व 1990 के दशक में संस्था निर्माता खुद को प्रभावी ढंग से स्थापित करने और अपने पूर्ववर्तियों की तरह सफलता अर्जित करने में विफल रहे हैं। कुछ अन्य कारण रहे हैं - जैसे टुकड़ा-टुकड़ा योगदान जो विश्व स्तर पर जीव विज्ञान में स्थायी प्रभाव छोड़ने के लिए पर्याप्त नहीं है और देश में मात्र गिने-चुने लोगों द्वारा कुछ ही क्षेत्रों में किए जा रहे छिटपुट प्रयास।

दुर्भाग्यवश, उचित दिशा और मार्ग के अभाव के अलावा, एक कारण यह भी रहा है कि इन संस्थानों में राष्ट्रीय की बजाय निजी उद्देश्यों पर ज़ोर देने के चलते बहुत सारी प्रतिभाएं बेकार पड़ी रह गई हैं। 40 वर्षों के कार्य अनुभव के आधार पर मेरी निजी राय है कि इसके परिणामस्वरूप, कुछ व्यक्तियों को छोड़कर, लगभग एक पीढ़ी का योगदान बिलकुल नहीं मिल सका है। इसका दोष सरकारों और प्रशासन से जुड़े उन लोगों पर जाता है जो जीव विज्ञान के विषय में एक 'विशाल-विज्ञान' के लिए गुंजाइश विकसित नहीं कर पाए, जैसा कि नाभिकीय ऊर्जा और अंतरिक्ष विज्ञान में संभव हो सका था।

इस बहु-आयामी समस्या का एक दिलचस्प परिणाम यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर स्पष्टता की कमी है और व्यक्तिगत कारक प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इसलिए, जीव विज्ञान के लिए 'विशाल-विज्ञान' का स्थान बनाने के लिए एक ऐसा परिप्रेक्ष्य विकसित करने की आवश्यकता है जिसके तहत मौजूदा प्रतिभा का उपयोग किया जा सके। साथ ही विज्ञान में उच्च शिक्षा को आकार देने की चुनौतियों का सामना करने के लिए एसएंडटी नीति को विकसित करने की भी आवश्यकता है।

इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि एक अच्छा विज्ञान कर्म उपलब्ध मानव संसाधन की गुणवत्ता पर और निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इसे तैयार

करने के तरीकों पर निर्भर है। इन लक्ष्यों का निर्धारण व्यापक भागीदारी और गंभीर मंथन के आधार पर किया जाना चाहिए। हमें अपनी मौजूदा शक्तियों का उपयोग वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार करना होगा और बार-बार पहिए का आविष्कार करने की कवायद से बचना होगा।

कोई भी देख सकता है कि जीव विज्ञान के क्षेत्र में, अपनी नीतियों को धरातल पर उतारने और उनके द्वारा निर्धारित आत्म निर्भरता, टिकाऊपन और न्यायसंगत विकास के लक्ष्य को हासिल करने में हम कितने सफल रहे हैं। अतीत में प्रधान मंत्रियों और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्रियों के तमाम बयानों में 'टिकाऊपन' तथा 'आत्म-निर्भरता' जैसे नारे कई बार मुखरित हुए हैं लेकिन ज़मीनी हकीकत निराशाजनक बनी हुई है।

स्वास्थ्य के संदर्भ में समाज की बुनियादी न्यूनतम आवश्यकताओं, जैसे जल जमाव रोकना, जल निकासी का प्रबंधन, ठोस एवं इलेक्ट्रॉनिक कचरे के कुशल और कम लागत वाले प्रभावी निपटान के अलावा प्रदूषण नियंत्रण, पर पिछले कई दशकों से प्रभावी रूप से कोई ध्यान नहीं दिया गया है। आज जब स्वच्छ भारत से लेकर स्किल्ड और डिजिटल इंडिया जैसे कई अभियान चल रहे हैं, यह देखना बाकी है कि क्या इनसे ज़मीनी हकीकत में बदलाव आएगा और क्या वैज्ञानिक और शिक्षित वर्ग इनमें अपेक्षित भागीदारी करेगा।

अब हमें प्रशिक्षित मानव संसाधन के बारे में 'रटंत विद्या और उसके आधार पर सफल कैरियर' से आगे बढ़कर भविष्य में ऐसे पाठ्यक्रम के बारे में सोचना चाहिए जिसमें सीखने के परिणामों को मापा जा सके। इस प्रकार प्राप्त किए गए ज्ञान का उपयोग उपरोक्त मुद्दों का हल निकालने के साथ-साथ नए ज्ञान के सृजन के लिए करना चाहिए।

यदि आप इस बात का अध्ययन करें कि क्या उच्च शिक्षा नीतियों, खासकर विज्ञान की उच्च शिक्षा नीतियों को एसएंडटी नीतियों के अनुरूप ढालने की कोशिश हुई है, तो आपको पता चलेगा कि ऐसा कोई विचार ही नहीं है। इसके अलावा, हमारी नीतियों के कारण उच्च शिक्षा में महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के बीच अधोसंरचना की संस्थागत असमानता पैदा हुई है और ये अलग-अलग रोडमैप के साथ काम करते हैं। नतीजा यह है, अलग-अलग पाठ्यक्रम हैं, अलग-अलग शिक्षण विधियां हैं, प्रायोगिक प्रशिक्षण में अंतर हैं और सीखने के परिणाम भी अलग-अलग हैं। जब भी और जहां भी एकरूपता लाने की कोशिश की गई, हर बार असफलता ही हाथ लगी है।

इसके साथ ही, उभरते हुए ज्ञान के साथ कदम मिलाकर चलने में असफलता, अन्य विषयों से सम्बद्धता और एकीकरण का अधमना प्रयास, और छात्रों की बदलती ज़रूरतों के हिसाब से आवश्यक कौशल प्रदान करने में असफलता ने पाठ्यक्रम में क्रमिक संशोधनों की बजाय यकायक परिवर्तन को आवश्यक बना दिया है। विषय विशेष की पाठ्यक्रम संरचना को बदलने और मापन योग्य परिणाम हासिल करने के लिए यह दृष्टिकोण और रवैया आवश्यक है। हालांकि इसका मतलब यह नहीं है कि नए कलेवर में वही पुरानी चीज़ भर दी जाए, जिसमें पाठ्यक्रमों में टुकड़ा-टुकड़ा संशोधन करके उन्हें सीखने के परिणामों पर आधारित शिक्षा का नाम दे दिया जाता है।

शिक्षा नीतियों के माध्यम से समय-समय पर शिक्षा सम्बंधी बहसें होती रही हैं: विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948); माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952); राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (डी. एस. कोठारी, 1964-66), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968); राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मसौदा (1979), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) और राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1992)। हालांकि, ये नीतियां कागज़ पर प्रशंसनीय दिखती थीं तथा अपने समय के लिए प्रासंगिक दिशा प्रदान करती थीं, लेकिन खराब क्रियान्वयन और निगरानी के कारण उत्कृष्टता लाने में विफल रहीं।

हाल ही में, उच्च शिक्षा के क्षेत्र में बेहतर प्रबंधन के लिए नियामक एजेंसियों में सुधार की घोषणा की गई है। इसके लिए 2018 में उच्च शिक्षा आयोग का गठन किया गया है ताकि महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की निगरानी और धन आवंटन के नियामक ढांचे में सुधार किया जा सके। इसने यूजीसी, अखिल भारतीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एआईसीटीई) जैसी स्थापित संस्थाओं के स्वतंत्र कामकाज

से सम्बंधित मुद्दों को उजागर किया है जो अपेक्षित कार्य नहीं कर रही हैं। एक विचार यह भी रहा है कि इन संस्थाओं को हटाकर नई संस्थाएं बनाने की बजाय इनसे सही तरह से काम करवाया जाए और इन्हें जवाबदेह बनाया जाए। डर इस बात का है कि मौजूदा संस्थाओं की तरह, कहीं यह विशालकाय उच्च शिक्षा आयोग भी उन्हीं बुराइयों का शिकार न हो जाए। लिहाज़ा इसका समाधान यह है कि मौजूदा संस्थाओं के कामकाज को सुधारा जाए और उन्हें चुस्त बनाया जाए, ताकि हम फिर से वही बातें सीखने में समय न बर्बाद करें।

एक देश के रूप में प्रतिभा को खोजने, उसे पोषित करने तथा सहायता करने में हमने बहुत कम काम किया है। हां, इक्का-दुक्का अपवाद हैं लेकिन उनकी संख्या काफी कम है। अर्थात जिस पैमाने पर यह काम किया जाना है वह नहीं हुआ है और विभिन्न ज़रूरतों के लिए ज़रूरी क्षमता का निर्धारण करना भी बाकी है। सत्ता के गलियारों में अधिकतर लोग एक उबड़-खाबड़ रास्ते पर हैं। सभी के लिए समान रूप से आवश्यक डिज़ाइन और क्रियान्वयन के लिए उन्हें गहरे चिंतन और मनन की ज़रूरत है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के माध्यम से देश के सामने अवसर है कि यूजीसी को एक अंग के रूप में शामिल करके स्वयम के माध्यम से मुफ्त ऑनलाइन शिक्षा आसानी से उपलब्ध कराई जा सकती है। अभी सबसे बड़ा कार्य, विभिन्न विषयों में यूजी और पीजी के लिए बड़े पैमाने पर ऑनलाइन कोर्सेज़ और लर्निंग आउटकम आधारित पाठ्यक्रम फ्रेमवर्क के तहत ऑनलाइन मॉड्यूल विकसित करना है। यह प्रक्रिया काफी समय से कई देशों में लागू है। इसकी रूपरेखा विकसित करने के लिए कोर समिति और विषय विशेषज्ञों की बैठक हुई थी जिसका उद्देश्य रूपरेखा तैयार करके उसे चर्चा, संशोधन और आखिर में अपनाने के लिए प्रसारित करना था। मुझे लगता है कि यह (स्वयम) विज्ञान के विभिन्न विषयों में पाठ्यक्रम संरचनाओं में गुणात्मक बदलाव लाने का उपयुक्त मौका है, जिसमें सीखने के परिणामों को सटीक रूप से परिभाषित किया जाए और मूल्यांकन किया जाए ताकि इन्हें देश की एसएंडटी नीति में व्यक्त आकांक्षाओं के अनुरूप बनाया जा सके। पाठ्यक्रम संरचनाओं को एकीकृत, बहु-विषयी और अंतर-विषयी तरीके से तैयार करने की आवश्यकता है ताकि वैज्ञानिक विषयों के एक बड़े परास को साथ लाया जा सके और जटिल समस्याओं को हल करने के लिए नई विधियों, अवधारणाओं और दृष्टिकोणों का विकास हो सके। एसएंडटी और उच्च शिक्षा नीतियों में संतुलन बनाने के लिए यदि और जब इस दृष्टिकोण को अपनाया जाता है तो इस बदलाव का विरोध करने वाले शिक्षकों और छात्रों के बीच अभिमत उत्पन्न हो सकते हैं। दूसरी ओर, इसे सामाजिक आवश्यकताओं के लिए प्रासंगिक एवं नई खोजों और नवाचारों के लिए मानव संसाधन तैयार करके उच्च शिक्षा को आकार देने के एक अवसर के रूप में भी देखा जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर मैं यहां एक विषय क्षेत्र की झलक प्रदान करता हूं कि किस तरह एसएंडटी में नवाचार के घोषित लक्ष्य को पाठ्यक्रम में सीखने के सुपरिभाषित व सार्थक परिणामों के अनुरूप फेरबदल करके प्राप्त किया जा सकता है। एक अध्ययन के तौर पर मैं जंतु विज्ञान को चुन रहा हूं जो हमारे पारंपरिक महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। यूजी और पीजी पाठ्यक्रम में कुछ बदलाव लाने के लिए हमें जंतु विज्ञान को आधुनिक जैविक परिप्रेक्ष्य में समझना होगा जिसमें जीवों को परमाणु स्तर पर देखा जाता है। जीवों की प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु रासायनिक, भौतिक, गणितीय और आणविक पहलुओं का कारगर तरीके से एकीकृत अध्ययन करने की आवश्यकता है ताकि विभिन्न जीवों के आंतरिक कामकाज को आकारिकी, कोशिकीय, आणविक, परस्पर क्रियात्मक एवं जैव विकास जैसे विभिन्न स्तरों पर समझा जा सके।

पाठ्यक्रम को संस्था में उपलब्ध संसाधनों और भौगोलिक स्थिति के आधार पर अलग-अलग आकार दिया जा सकता है। लेकिन, इसे सीखने के कमोबेश एकरूप परिणामों के अनुरूप होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में, विभिन्न कौशलों के साथ शिक्षण और प्रायोगिक प्रदर्शन में जैव विकास के विभिन्न सोपानों की क्षेत्रीय प्रजातियों का उपयोग किया जा सकता है और फिर भी तुलनात्मक

जीव विज्ञान की समझ एक जैसी हो सकती है। आखिरकार, इसका उद्देश्य अकशेरुकी और कशेरुकी जीवों यानी एकल कोशिकीय प्रोटोज़ोआ से लेकर बहुकोशिकीय मनुष्यों तक में विभिन्न प्रणालियों की तुलना करते हुए जीव जगत के आंतरिक कामकाज को समझने में मदद देने का होना चाहिए। इसमें सूचना व संचार टेक्नॉलॉजी (आईसीटी) के औज़ारों की मदद ली जा सकती है तथा प्रायोगिक कार्य और मैदानी अध्ययन को भी जोड़ा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि विभिन्न फायलम को समझने के लिए एक ही सैद्धांतिक ढांचे का इस्तेमाल किया जाए और आकारिकी और आणविक औज़ारों के आधार पर वर्गीकरण को जैव विकास के आधार पर समझने की कोशिश हो और साथ में उपयुक्त मैदानी व प्रयोगशाला कार्य को जोड़ा जाए तो छात्र रटंत प्रणाली से मुक्त रहेंगे।

यदि कोई छात्र जंतु विज्ञान में उद्यम स्थापित करने में रुचि रखता है तो उसे जीवन के विभिन्न रूपों में विविधता को एक सामाजिक-आर्थिक संपदा के रूप में देखने की आवश्यकता होगी। इसमें प्राणि विज्ञान के प्रयुक्त पहलुओं को ध्यान में रखना होगा। शोध को अपना कैरियर बनाने में रुचि रखने वाले छात्र के लिए ज़रूरी होगा कि वह रासायनिक और भौतिक सिद्धांतों को अणुओं से लेकर स्व-संगठित एवं संगठित जीवों पर इन्हें लागू करना समझे। जीन, जीनोम, कोशिका, ऊतक, अंग और तंत्रों के स्तर पर संरचना व कार्य के परस्पर सम्बंधों का व्यापक व समग्र ज्ञान सीखने के परिणामों में और अधिक योगदान देगा। इसके अलावा ज्ञान का यह आधार औद्योगिक अनुप्रयोग एवं विशुद्ध शोध कार्य, दोनों के लिए जीन एवं जीनोम संपादन के संदर्भ में भी काफी उपयोगी होगा। छात्रों को प्रायोगिक अनुभव प्रदान करने तथा भविष्य में उपयोग के लिए कौशल प्रदान करने के लिए इन समस्याओं से जुड़े लघु शोध प्रबंध हाथ में लिए जा सकते हैं। अर्जित ज्ञान का संश्लेषण और उससे हासिल परिणाम भविष्य में यूजी एवं पीजी के छात्रों के सीखने के परिणामों को परिभाषित करेंगे।

इस तरह जो मानव संसाधन तैयार होगा वह भविष्य की ज़रूरतों, बुनियादी तथा अनुप्रयुक्त दोनों, को पूरा करने के लिए भली-भांति तैयार होगा। वैसे भी अब बुनियादी तथा अनुप्रयुक्त शोध को अलग-अलग करके देखना मुनासिब नहीं है। प्रसंगवश बता दें कि यदि इस दृष्टिकोण को अपनाया जाता है तो शिक्षकों का अध्यापन बोझ अनुकूलित और कम किया जा सकता है, हालांकि शुरू में पाठ्यक्रम की सामग्री को आकार देने के लिए थोड़ी मेहनत करना होगी। शिक्षकों को इसके लिए तथा एकरूप तरीका अपनाने के लिए प्रशिक्षित करने की आवश्यकता होगी।

हालांकि उपरोक्त विशेषताओं की उम्मीद जंतु विज्ञान के यूजी/पीजी के ऐसे समस्त छात्रों से की जा सकती है, जो एक एकीकृत और अंतर-विषयी तरीके से पारिस्थितिक तंत्र के भीतर के अंतर्सम्बंधों के आधार पर विषय का अध्ययन करेंगे लेकिन संस्थान-संस्थान में इसका पैमाना, प्रकृति और गहनता को लेकर भिन्नता हो सकती है। अन्य विषयों के लिए भी ऐसा ही होने की संभावना है।

विषय कोई भी हो, अध्ययन के विषय और उससे जुड़े 'सामाजिक कौशल' से सम्बंधित सीखने के परिणामों में एकरूपता लाना अनिवार्य है। विषय से जुड़े कौशलों की एक व्यापक श्रेणी के के भीतर ज़रूरत इस बात की है कि आलोचनात्मक चिंतन, विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक तर्क, तार्किक सोच, सूचना एवं डिजिटल साक्षरता, और समस्याएं सुलझाने की क्षमताएं प्रदान की जाएं एवं उनका आकलन किया जाए। ये वे गुण हैं जो यूजीसी की कोर समिति द्वारा यूजी/पीजी के प्रत्येक छात्र के लिए निर्धारित किए गए हैं।

यदि विज्ञान के विभिन्न विषयों के विभिन्न टॉपिक्स को पढ़ाने के इन तरीकों को अपनाया जाता है, जिसमें विषयों को अनुप्रयोगों के एक दायरे से जोड़ा जाएगा, तो उससे लोगों और भावी पीढ़ियों में विश्वास पैदा होगा क्योंकि इससे उनकी सामाजिक ज़रूरतों की पूर्ति होगी। जो लोग खोजी अनुसंधान की क्षमता दर्शाते हैं उन्हें किसी अप्रासंगिक खोज को दोहराते रहने की बजाय अपनी जिज्ञासा से उभरे अनूठे सवालों के जवाब खोजने का मौका दिया जा सकता है। आखिरकार, प्राप्त शिक्षा और इसके सीखने के परिणाम या तो नए ज्ञान के रूप में होना चाहिए या फिर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामाजिक लाभों के रूप में या शायद दोनों

रूपों में होने चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि आज का तथाकथित 'बुनियादी' ज्ञान कल एक अनुप्रयोगी मूल्य प्राप्त कर सकता है। विषय क्षेत्रों की बुनियादी और एकीकृत वैचारिक समझ में स्पष्टता आविष्कारों, खोजों और नवाचार का आधार है। यह समय एसएंडटी मिशन और राष्ट्र निर्माण को पूरा करने के लिए उच्च शिक्षा प्रणाली में पाठ्यक्रम और सीखने के परिणामों को आकार देने का है। ***(स्रोत फीचर्स)***

रासायनिक हथियारों से बचाव के लिए जेनेटिक उपचार

रासायनिक हथियारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबंध के बावजूद कई देश अपने दुश्मन देश की फौज और आम नागरिकों पर घातक नर्व एजेंट (तंत्रिका-सक्रिय पदार्थ) का हमला करते हैं। ऐसे रासायनिक हमलों के उपचार उपलब्ध तो हैं लेकिन उपचार तुरंत देने आवश्कता होती है और कई बार ये उपचार रासायनिक हमले के प्रभाव (जैसे मांसपेशियों की ऐंठन या मस्तिष्क क्षति) से बचाव भी नहीं कर पाते।

हाल ही में अमेरिकी सेना के शोधकर्ताओं ने एक ऐसा जीन उपचार विकसित किया है जिसके माध्यम से शरीर में नर्व एजेंट को तहस-नहस करने वाला प्रोटीन बनने लगता है। गौरतलब है कि इसे अभी केवल चूहों पर ही आज़माया गया है। सैद्धांतिक रूप से इस रणनीति को सैनिकों के लिए अपनाया तो जा सकता है लेकिन यह काफी जोखिम भरा होगा। हो सकता है कि शरीर इस प्रोटीन के विरुद्ध हानिकारक प्रतिरक्षा प्रतिक्रिया विकसित कर ले।

नर्व एजेंट मूलतः ऑर्गनोफॉस्फेट यौगिक होते हैं। ये मांसपेशियों में एक तंत्रिका-संदेशवाहक रसायन एसीटाइलकोलीन के स्तर को नियंत्रित करने वाले एंज़ाइम को बाधित करते हैं। एसीटाइलकोलीन की मात्रा बढ़ने की वजह से मांसपेशियों में ऐंठन, सांस लेने में तकलीफ होती है और मृत्यु भी हो सकती है। एट्रोपीन और डायज़ेपाम जैसे मौजूदा उपचार एसीटाइलकोलीन के ग्राही को अवरुद्ध कर देते हैं। लेकिन यदि तुरंत उपचार न किया जाए तो इससे तंत्रिका सम्बंधी स्थायी क्षति हो सकती है।

बेहतर उपचार खोजने के लिए शोधकर्ताओं ने प्रयोगशाला में जंतुओं में ऐसा मानव एंज़ाइम इंजेक्ट किया जो ज़्यादा तेज़ गति से क्रिया करता है और ऑर्गनोफॉस्फेट द्वारा नुकसान पहुंचाए जाने से पहले ही उसे विघटित कर देता है। इससे पहले, वाइज़मैन इंस्टीट्यूट के जैव-रसायनयज्ञ मोशे गोल्डस्मिथ और उनके साथियों ने पैराऑक्सीनेज़-1 (PON-1) नामक एंज़ाइम में फेरबदल किया था ताकि यह नर्व एजेंटों को तेज़ी से खत्म करने में मदद करे। लेकिन पूरी सेना के लिए इतनी बड़ी मात्रा में PON-1 बनाकर भंडारण करना और शरीर में पहुंचने के बाद उसे प्रतिरक्षा तंत्र से बचाकर रखना काफी मशक्कत का काम है।

यू.एस. आर्मी मेडिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ केमिकल डिफेंस के वैज्ञानिकों ने लीवर को यह अणु बनाने के लिए तैयार करने की सोची। इसके लिए जैव-रसायनयज्ञ नागेश्वर राव चिलुकुरी और उनकी टीम ने एक वायरस की मदद से चूहों की लीवर कोशिकाओं में डीएनए निर्देश पहुंचाने की व्यवस्था की। परिणामस्वरूप चूहों के लीवर से PON-1 एंज़ाइम स्रावित होने लगा, जो 5 महीनों तक चले अध्ययन में स्थिर बना रहा। *साइंस ट्रांसलेशनल मेडिसिन* में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार चूहे लगभग 6 सप्ताह तक नर्व एजेंटों के 9 घातक इंजेक्शन झेल सके।

जीन उपचार से चूहों को किसी प्रकार का नुकसान तो नहीं हुआ लेकिन PON-1 प्रोटीन के खिलाफ उन्होंने एंटीबॉडी विकसित कर लिए लेकिन एंटीबॉडी की मात्रा इतनी कम थी कि वे PON-1 की क्रिया को रोक नहीं पाए। टीम का मानना है कि इस उपचार से सैनिकों, मेडिकल स्टाफ और सैन्य कुत्तों की रक्षा की जा सकती है तथा खेतों में काम करने वाले मज़दूरों को भी ऑर्गनोफॉस्फेट कीटनाशकों के प्रभाव से बचाया जा सकता है। ***(स्रोत फीचर्स)***

पोषण कार्यक्रमों की कितनी पहुंच है ज़रूरतमंदों तक

भारत डोगरा

कुपोषण व अल्प-पोषण की समस्या को देखते हुए भारत में पोषण योजनाओं व अभियानों का विशेष महत्व है। इस संदर्भ में भारत सरकार का हाल का बहुचर्चित कार्यक्रम 'पोषण अभियान' है। इस अभियान के अंतर्गत वित्तीय संसाधनों का आवंटन तो काफी हद तक उम्मीद के अनुरूप हुआ है, पर वास्तविक उपयोग में काफी कमी के कारण इसका समुचित लाभ प्राप्त नहीं हो पा रहा है।

एकाउंटेबिलिटी इनिशिएटिव (सेंटर फॉर पालिसी रिसर्च) के एक आकलन के अनुसार वित्तीय वर्ष 2017-18 से 2019-20 वित्तीय वर्ष में 30 नवंबर तक, इस कार्यक्रम के लिए जारी किया गया मात्र 34 प्रतिशत धन वास्तव में खर्च हुआ। इस अभियान में नई दिशा दिखाने वाली सफल प्रयोगात्मक परियोजनाओं के लिए विशेष अनुदान का प्रावधान है। इसका उपयोग 30 नवंबर 2019 तक मात्र 12 राज्यों में ही हो सका। वित्तीय वर्ष 2019-20 में नवंबर 2019 तक इस अभियान के लिए 15 राज्यों में कोई धन रिलीज़ ही नहीं हुआ था।

इस अभियान के बारे में यह भी समझना ज़रूरी है कि इसमें सूचना तकनीक, स्मार्टफोन खरीदने, सॉफ्टवेयर, मॉनीटरिंग, व्यवहार में बदलाव सम्बंधी आयोजनों आदि पर अधिक खर्च होता है और एकाउंटिबिलिटी इनिशिएटिव के अनुसार 72 प्रतिशत खर्च ऐसे मदों पर है। यह बताना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि पोषण अभियान से लोग यही समझते हैं कि इसके अंतर्गत अधिकतर धन का उपयोग भूख व कुपोषण से पीड़ित लोगों व बच्चों के लिए पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करने में खर्च होता है।

इस कार्यक्रम के लिए धन भारत सरकार के अतिरिक्त राज्यों व केन्द्र शासित प्रदेशों से आता है और विश्व बैंक व बहुपक्षीय बैंक अंतर्राष्ट्रीय सहायता भी उपलब्ध करवाते हैं।

बच्चों के लिए पोषण का सबसे बड़ा कार्यक्रम आई.सी.डी.एस. (आंगनवाड़ी) है। इस कार्यक्रम पर वर्ष 2014-15 में 16,664 करोड़ रुपए खर्च हुए थे व 2019-20 का संशोधित अनुमान 17,705 करोड़ रुपए है। अर्थात महंगाई का असर कवर करने लायक भी वृद्धि नहीं हुई है जबकि 5 वर्षों में इसके कवरेज में आने वाले बच्चों की संख्या तो निश्चय ही काफी बढ़ी है।

वर्ष 2019-20 में इसके लिए बजट अनुमान 19,834 करोड़ रुपए था व वर्ष 2020-21 का बजट अनुमान 20,532 करोड़ रुपए है, जिससे पता चलता है कि बहुत मामूली वृद्धि है जो महंगाई के असर की मुश्किल से पूर्ति करेगी।

इतना ही नहीं, वर्ष 2019-20 में इस स्कीम के लिए मूल आवंटन तो 19,834 करोड़ रुपए का था, पर संशोधित अनुमान तैयार करते समय ही इसे 17,705 करोड़ रुपए पर समेट दिया गया था यानी कार्यक्रम में 2129 करोड़ रुपए की कटौती की गई जो बहुत चिंताजनक है।

इसी तरह किशोरी बालिकाओं के स्वास्थ्य व पोषण की स्कीम 'सबला' के लिए 2019-20 के मूल बजट में 300 करोड़ रुपए का प्रावधान था जिसे संशोधित बजट में मात्र 150 करोड़ रुपए कर दिया गया यानी इसे आधा कर दिया गया। वर्ष 2020-21 के बजट में 250 करोड़ रुपए का प्रावधान है।

प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना को सरकार ने स्वयं विशेष महत्व की योजना माना है। किंतु वर्ष 2018-19 के बजट में इसके लिए जो मूल प्रावधान था, वास्तव में उसका मात्र 44 प्रतिशत ही खर्च किया गया। ज़्यां ड्रेज़ और रीतिका खेरा के एक अध्ययन में बताया गया है कि इस योजना के लिए योग्य मानी जाने वाली मात्र 51 प्रतिशत माताओं तक ही इसका लाभ पहुंच सका। जिनको लाभ मिला उनमें से मात्र 61 प्रतिशत को तयशुदा तीनों किश्तें प्राप्त हो सकीं (कुल 5000 रुपए)।

वर्ष 2019-20 में इस योजना के लिए 2500 करोड़ रुपए का मूल प्रावधान था। इसे संशोधित अनुमान में 2300

करोड़ रुपए कर दिया गया।

स्कूली बच्चों के लिए मिड-डे मील का कार्यक्रम महत्वपूर्ण है। इस पर वर्ष 2014-15 में वास्तविक खर्च 10,523 करोड़ रुपए था। वर्ष 2019-20 का इस कार्यक्रम का संशोधित अनुमान 9,912 करोड़ रुपए है यानि 5 वर्ष पहले के बजट से भी कम, जबकि महंगाई कितनी बढ़ गई है।

वर्ष 2019-20 के बजट में इस कार्यक्रम का मूल प्रावधान 11,000 करोड़ रुपए का था, पर संशोधित अनुमान में इसे 9,912 करोड़ रुपए कर दिया गया। वर्ष 2020-21 के बजट में फिर 11,000 करोड़ रुपए का प्रावधान है।

इस तरह पोषण कार्यक्रमों पर कम आवंटन, बड़ी कटौतियों, समय पर फंड जारी न होने आदि का प्रतिकूल असर पड़ता रहा है। इस स्थिति को सुधारना आवश्यक है। ***(स्रोत फीचर्स)***

नया कोरोना वायरस कहां से आया?

आज चीन सहित दुनिया में एक नया कोरोना वायरस तेज़ी से फैल रहा है। वैज्ञानिक इस नए वायरस का स्रोत का पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं। हाल ही में किए गए एक अध्ययन के अनुसार इस वायरस के स्रोत के बारे में कुछ सुराग प्राप्त हुए हैं। *दी लैंसेट* में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार शोधकर्ताओं ने चीन में नौ संक्रमित लोगों से प्राप्त इस नए वायरस (2019-nCoV) के 10 जीनोम अनुक्रमों का विश्लेषण किया।

अध्ययन में पाया गया कि सभी 10 जीनोम अनुक्रम एकदम समान थे। चूंकि वायरस काफी तेज़ी से उत्परिवर्तित और विकसित होते हैं, और यदि यह वायरस मानव शरीर में काफी समय से होता तो अनुक्रमों में भिन्नता होती। लेकिन इस शोधपत्र के सह-लेखक और युनिवर्सिटी ऑफ शैनडांग प्रॉविंस के प्रोफेसर वीफेंग शी के अनुसार इन अनुक्रमों में 99.98 प्रतिशत समानता पाई गई। इससे पता चलता है कि मानव शरीर में इस वायरस ने हाल ही में प्रवेश किया है।

मनुष्यों में हाल ही में उभरने के बावजूद यह वायरस अभी तक हज़ारों लोगों को संक्रमित कर चुका है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आंकड़ों के अनुसार यह चीन सहित 15 अन्य देशों में फैल चुका है और चीन में इससे अब तक 700 से अधिक लोगों की मौत हो चुकी है। इसके शुरुआती मामले चीन के वुहान शहर स्थित हुआनन सीफूड बाज़ार के संपर्क में रहे लोगों में पाए गए, जहां कई तरह के जंगली जीव बेचे जाते हैं।

वायरस के मूल स्रोत के बारे में जानने के लिए शोधकर्ताओं ने 2019-nCoV के जेनेटिक अनुक्रमों की तुलना जीनोम संग्रहालय में उपलब्ध कोरोना वायरस से की। जो दो वायरस 2019-nCoV सबसे नज़दीक पाए गए वे चमगादड़ से उत्पन्न हुए थे। इन दोनों वायरसों के आनुवंशिक अनुक्रम का 88 प्रतिशत हिस्सा 2019-nCoV से मेल खाता है।

इन परिणामों के आधार पर शोधकर्ता चमगादड़ को इसकी उत्पत्ति का संभावित स्रोत कह रहे हैं। चूंकि हुआनन सीफूड बाज़ार में चमगादड़ नहीं बेचे जाते, इससे लगता है कि इस वायरस के चमगादड़ से मनुष्य में पहुंचने की कड़ी में एक और मध्यस्थ जीव होगा। कुल मिलाकर यह बात तो स्पष्ट है कि वन्य जीवों में वायरस का एक छिपा भंडार है जो मनुष्यों में फैलने की क्षमता रखता है।

एक अध्ययन में कोरोना वायरस का संभावित स्रोत हुआनन बाज़ार में बिकने वाले सांपों को बताया गया था। लेकिन कई वैज्ञानिकों ने कहा है कि सांपों में कोरोना वायरस का संक्रमण होने का कोई प्रमाण नहीं है। ***(स्रोत फीचर्स)***

भारत में गर्म शहरी टापू

डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन

हाल ही में आईआईटी खड़गपुर के शोधकर्ताओं का एक अध्ययन प्रकाशित हुआ है: *मानवजनित गतिविधियां भारत में गर्मी के शहरी टापू जैसे हालात पैदा रही हैं*। इसमें कहा गया है कि उपनगरों की तुलना में शहरों का तापमान अधिक रहता है, जिससे प्रदूषण के अलावा गर्म हवा के थपेड़ों (लू) से भी स्वास्थ्य को खतरा हो सकता है। अध्ययन के एक लेखक अरुण चक्रवर्ती बताते हैं कि "हमारा शोध भारत के गर्म शहरी टापुओं का एक विस्तृत और सावधानीपूर्वक किया गया विश्लेषण है। हमने अपने अध्ययन में 2001 से 2017 तक सभी मौसमों के दौरान भारत के 44 प्रमुख शहरों और उनके आसपास के ग्रामीण इलाकों की भू-सतह के तापमान में अंतर का अध्ययन किया है।" वे आगे बताते हैं कि "पहली बार हमें इसे बात के प्रमाण मिले हैं कि मानसून के दौरान और मानसून के बाद अधिकतर शहरों का दिन का सतही तापमान आसपास के उपनगरों की अपेक्षा औसतन 2 डिग्री सेल्सियस तक ज़्यादा होता है। इस अध्ययन के लिए आंकड़े उपग्रहों द्वारा प्राप्त हुए हैं।" अन्य शोधकर्ताओं द्वारा भी दिल्ली, मुंबई, बैंगलुरू, हैदराबाद और चेन्नई जैसे शहरों के दिन के तापमान में इसी तरह की वृद्धि देखी गई है।

हम भोपाल, हैदराबाद, बैंगलुरू या श्रीनगर स्थित शहरी झीलों के बारे में तो जानते हैं जो शहरों को खुशनुमा माहौल और शीतलता प्रदान करती हैं। लेकिन शहरी गर्म टापू क्या चीज़ है? शहरी गर्म टापू (urban heat island या UHI) यानी घनी आबादी वाले ऐसे शहर जिनका तापमान अपने आसपास के उपनगर या ग्रामीण इलाकों की तुलना में 2 डिग्री तक अधिक होता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अधिक खुली जगह, पेड़-पौधों और अधिक घास से परिपूर्ण गांवों की तुलना में शहरों में फुटपाथ, सड़क और छत बनाने में कॉन्क्रीट, डामर (टार) और ईंट जैसी सामग्रियों का उपयोग होता है जो अपारदर्शी होती हैं और अपने से प्रकाश को गुज़रने नहीं देती, लेकिन इनकी ऊष्मा धारिता और ऊष्मा चालकता अधिक होती है।

पेड़-पौधों का एक गुण है वाष्पोत्सर्जन। वाष्पोत्सर्जन का मतलब है पौधों में से पानी का वाष्प बनकर आसपास के वायुमंडल में निकास। उपनगरों और ग्रामीण इलाकों में घास और पेड़-पौधे यह कार्य करते हैं और तापमान को कम करते हैं। लेकिन शहरों में वाष्पोत्सर्जन कम होता है जिसके कारण शहर का तापमान, आसपास के इलाकों के तापमान की तुलना में अधिक हो जाता है।

शहरी गर्म टापुओं में उद्योगों और वाहनों से होने वाले प्रदूषण वहां की हवा की गुणवत्ता भी कम करते हैं और उपनगरों की तुलना में यहां पदार्थों के महीन कण और धूल भी अधिक होती है। शहरी गर्म टापुओं का अधिक तापमान गर्म स्थान पसंद करने वाली प्रजातियों, जैसे छिपकली और गेको की आबादी में इजाफा करता है। ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में यहां चींटियों जैसे कीट अधिक पाए जाते हैं। ये ऐसे जीव हैं जिनके शरीर का तापमान वातावरण के साथ घटता-बढ़ता है। इन्हें एक्टोथर्म कहते हैं।

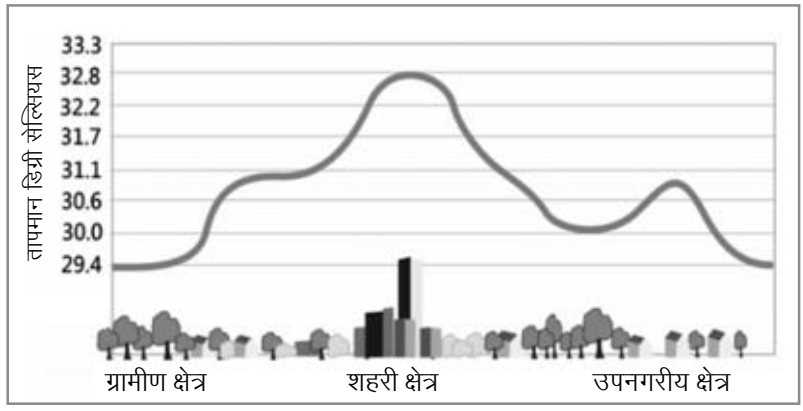

इसके अलावा, शहरों में गर्म हवा के थपेड़े (लू) अधिक चलते हैं जो मानव और पशु स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, जिससे ऊष्मा-जनित मरोड़, नींद ना आना और मृत्यु दर में वृद्धि होती है। UHI आसपास के जल स्रोतों को भी प्रभावित करता है। शहर के नाले-नालियों के ज़रिए शहर का गर्म पानी पास की झीलों और नदियों में छोड़ा जाता है जो पानी की गुणवत्ता को प्रभावित करता है।

यह सोचकर तकलीफ होती है कि बैंगलुरू जैसे शहर में आज कई शहरी गर्म टापू हैं जबकि यह कभी अपनी स्वस्थ जलवायु के लिए जाना जाता था। यहां तक कि कोरामंडल और जयनगर जैसी जगहों में भी गर्मी के टापू बन गए हैं। इमारतें, औद्योगिक क्षेत्र और उनसे लगे हुए उपनगरों में गगनचुंबी इमारतों (जैसे इलेक्ट्रॉनिक सिटी और व्हाइटफील्ड) के तेज़ी से होते विस्तार ने शहर को अस्वस्थ बना दिया है। शहर की कुछ साफ-सुथरी झीलें अब गंदी और रूग्ण हो गईं हैं।

इसी प्रकार से, 1977 में जब मैं और मेरा परिवार हैदराबाद आए थे तब हमें बताया गया था कि रात में एयर कंडीशनर तो क्या, छत के पंखे तक की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। और अब हमारे पास, इन्हीं औद्योगिक पार्कों, कारखानों और सटी-सटाई इमारतों के विस्तार की बदौलत शहरी गर्म टापू हैं। ये इलाके अब यह एक तीसरे शहर, साइबराबाद के नाम से जाने जाते हैं। इनके कारण शहर ना केवल शहरी गर्म टापू में तबदील हुआ है बल्कि उद्योगों और ऑटोमोबाइल से होने वाले प्रदूषण की वजह से वायु गुणवत्ता सूचकांक भी काफी बिगड़ गया है। सुरक्षित वायु गुणवत्ता सूचकांक 61-90 के बीच माना जाता है (जब हवा के माध्यम से कण मानव और जानवरों के शरीर में प्रवेश करते हैं जो असहजता और बीमारी पैदा करते हैं)। लेकिन दिल्ली जैसे शहरों में एयर क्वालिटी इंडेक्स का स्तर खराब-से-खतरनाक, 323, स्तर तक पहुंच गया है। शुक्र है, हैदराबाद और बैंगलुरू अभी भी सुरक्षित हैं, लेकिन गुणवत्ता बनाए रखने के लिए ज़रूरी कदम उठाने की आवश्यकता है।

औद्योगीकरण और आर्थिक विकास देश के लिए महत्वपूर्ण हैं, लेकिन शहरी गर्म टापुओं को नियंत्रित करना और उनमें कमी लाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इसके लिए कई तरीके अपनाए जा रहे हैं और अपनाए जा सकते हैं। इनमें से एक है छतों पर हरियाली बनाना, हल्के रंग के कॉन्क्रीट उपयोग करना (जैसे डामर या टार के साथ चूना पत्थर का उपयोग करके सड़क की सतह का रंग भूरा या गुलाबी किया जा सकता है जैसा कि अमेरिका के कुछ स्थानों पर किया गया है); चूंकि हल्के रंग कम ऊष्मा अवशोषित करते हैं और अधिक प्रकाश परावर्तित कर देते हैं इसलिए काले रंग की तुलना में हल्के रंग के कॉन्क्रीट 50 प्रतिशत तक बेहतर हैं। इसी तरह हमें छतों पर हरियाली लगानी चाहिए, और इस हरी पृष्ठभूमि में सौर पैनल लगाने चाहिए।

इसके अलावा अधिक से अधिक पेड़-पौधे लगाना चाहिए। यह समझना काफी दिलचस्प होगा कि पेड़ हमारे लिए कितने फायदेमंद हैं। *ट्रीपीपल* नामक संस्था ने पेड़-पौधों से होने वाले ऐसे 22 फायदे गिनाए हैं (Tree people.org/tree-benefits)। मौजूदा समय की बात करें तो पेड़ः जलवायु परिवर्तन से निपटने में मदद करते हैं; नाइट्रोजन ऑक्साइड्स, ओज़ोन, अमोनिया, सल्फर ऑक्साइड्स जैसी प्रदूषक गैसों को सोखते हैं और अपने पत्तों और छाल पर महीन कणों को जमा कर हमारे आसपास का वातावरण स्वच्छ बनाते हैं; शहरों और सड़कों को ठंडा रखते हैं; ऊर्जा की बचत करते हैं (एयर कंडीशनिंग के खर्चे में 50 प्रतिशत तक कटौती करके); पानी बचाते हैं और जल प्रदूषण रोकने में मदद करते हैं; मिट्टी के कटाव को रोकते हैं; लोगों और बच्चों का अल्ट्रावॉयलेट किरणों से बचाव करते हैं; आर्थिक लाभ के मौके देते हैं; विभिन्न समूह के लोगों को साथ लाते हैं; बस्तियों को एक नई पहचान देकर नागरिक गौरव को प्रोत्साहित करते हैं; कॉन्क्रीट की दीवारों को ढंक देते हैं और इस तरह ये सड़कों और राजमार्गों से आने वाले शोर को भी कम कर देते हैं और आंखों को सुकूनदायक हरा-भरा नज़ारा देते हैं; व्यापारिक जगहों पर जितने अधिक पेड़ होंगे उतना अधिक व्यवसाय होगा। इसलिए भवनों, स्कूलों, घरों और परिसरों में और उनके आसपास अधिक से पेड़-पौधे लगाएं। लेकिन सिर्फ पेड़ लगाने से काम नहीं बनेगा, इनकी देखभाल भी ज़रूरी है! ***(स्रोत फीचर्स)***

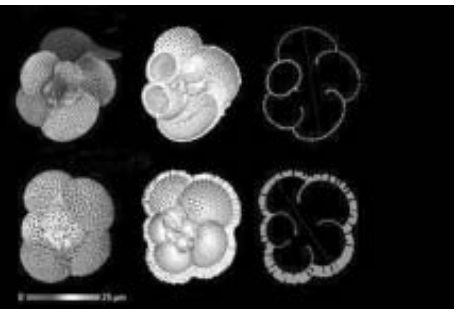

अम्लीय होते समुद्र के प्रभाव

डेढ़ सौ साल पुराने प्लैंकटन (सूक्ष्म जलीय वनस्पति) के अध्ययन के आधार पर किंग्सटन युनिवर्सिटी के शोधकर्ताओं ने जलवायु परिवर्तन के बारे में काफी महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।

सन 1872-76 तक चले *एचएमएस चैलेंजर* अभियान के दौरान एकत्रित किए गए एक-कोशिकीय, कवच बनाने वाले जीव *फोरामिनीफेरा* लंदन स्थित म्यूज़ियम ऑफ नेचुरल हिस्ट्री में रखे हुए थे। सूक्ष्मजीवाश्म विज्ञानी लिंडसे फॉक्स ने इन *फोरामिनीफेरा* नमूनों का अध्ययन किया और पाया कि वर्तमान *फोरामिनीफेरा* की तुलना में प्राचीन *फोरामिनीफेरा* के कवच कहीं अधिक मोटे थे। उनका निष्कर्ष है कि कवच की मोटाई में यह परिवर्तन समुद्री पानी के तेज़ी से अम्लीय होने की वजह से हुआ है।

वैसे तो वैज्ञानिक इस बात को पहले से जानते थे कि वातावरण में मौजूद अतिरिक्त कार्बन डाईआऑक्साइड के समुद्र में घुलने के परिणामस्वरूप महासागर अम्लीय होते जा रहे हैं जिसके कारण समुद्री जीवन बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। अम्लीय पानी कैल्शियम कार्बोनेट और जीवों के बाह्य कंकाल को झीना कर देता है और उनके लिए इस तरह की संरचना बना पाना ही मुश्किल हो जाता है। लेकिन अधिकांश नतीजे प्रयोगशाला में किए गए प्रयोगों से मिले थे जो बहुत लंबी अवधि के नहीं होते। वैज्ञानिक खुले समुद्र में अम्लीय होते महासागरों के दीर्घकालिक प्रभाव जांचने में सक्षम नहीं थे।

तुलना के लिए शोधकर्ताओं ने दो प्रजातियों *Neogloboquadrina dutertrei* और *Globigerinoides ruber* को चुना। एचएमएस चैलेंजर द्वारा एकत्रित नमूनों के सटीक स्थान और समय के बारे में जानकारी प्राप्त की और इनकी तुलना उन्होंने 2011 में प्रशांत महासागर में चले *तारा* अभियान से प्राप्त उन्हीं प्रजातियों के नमूनों से की।

उन्होंने सी.टी. स्कैन की मदद से इनके कवच का 3-डी मॉडल बनाया। उन्होंने पाया कि प्राचीन नमूनों की तुलना में औसतन सभी आधुनिक कवच झीने थे। *N. dutertrei* का आवरण तो 76 प्रतिशत झीना था। *साइंटिफिक रिपोर्ट्स* में प्रकाशित शोध पत्र में बताया गया है कि कुछ कवच तो इतने पतले थे कि 3-डी मॉडल तक बनाना मुश्किल था।

शोधकर्ताओं का कहना है कि ऐसी संभावना है कि कवच समुद्रों की बढ़ती अम्लीयता के कारण झीने हुए हों। हालांकि वे मानते हैं कि इसमें महासागरों के बढ़ते तापमान और ऑक्सीजन की कमी की भी भूमिका हो सकती है।

फॉक्स ऐसी ही तुलना संग्रहालयों में रखे हज़ारों प्लैंकटन जीवाश्मों के साथ करना चाहती हैं। वे उम्मीद करती हैं कि यह अध्ययन अन्य वैज्ञानिकों को भी संग्रहालयों की पड़ताल करने को प्रेरित करेगा। ***(स्रोत फीचर्स)***

सबसे बड़े भाषा डैटाबेस तक पहुंच हुई महंगी

एथनोलॉग पूरे विश्व की भाषाओं के बारे में जानकारी उपलब्ध कराने वाला एक विशाल ऑनलाइन डैटाबेस है। इसमें ऐसी तमाम जानकारी उपलब्ध है जैसे विश्व में कितनी भाषाएं हैं, किसी भाषा (हिब्रू से लेकर हौसा और हाक्का तक) को दुनिया में कितने लोग बोलते हैं या किसी भाषा के विलुप्त होने की संभावना कितनी है (1 से 10 के पैमाने पर)। यह भाषाविदों के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन रहा है। लेकिन कुछ समय पहले इस संसाधन तक शोधकर्ताओं की पहुंच महंगी कर दी गई है।

दरअसल *एथनोलॉग* को लंबे समय तक समर इंस्टीट्यूट ऑफ लिंग्विस्टिक्स (SIL) ने संचालित किया। लेकिन 2015 में जब SIL का फंडिंग खत्म होने लगी तब *एथनोलॉग* के संचालक गैरी साइमन्स को इसके संचालन के ढंग को बदलने की ज़रूरत महसूस हुई। *एथनोलॉग* को चलाने में

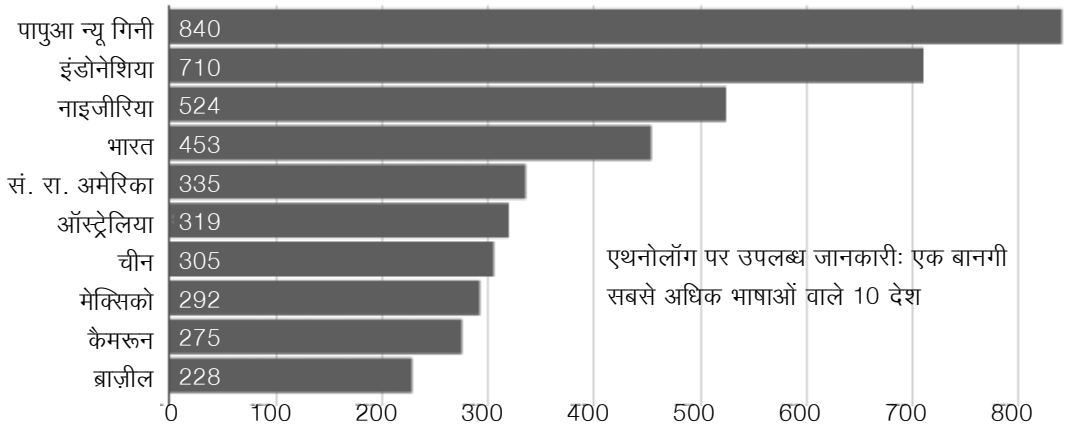

सालाना लगभग दस लाख डॉलर का खर्च आता है। इसलिए 2015 के अंत में पहली बार *एथनोलॉग* के उपयोगकर्ताओं से सदस्यता शुल्क लेना शुरू किया गया। यह शुल्क अब बढ़कर 480 डॉलर से शुरू होता है। इस पर मैक्स प्लैंक इंस्टिट्यूट फॉर दी साइंस ऑफ ह्युमन हिस्ट्री के भाषाविद साइमन ग्रीनहिल कहना है कि पिछले कुछ सालों में *एथनोलॉग* तेज़ी से महंगा हुआ है और इस पर पहुंच भी बाधित हुई है, जो बहुत दुखद है। उनका कहना है कि शोधकर्ता अब अन्य सस्ते या मुफ्त विकल्प खोज रहे हैं। उन्होंने खुद अपने अध्ययन *भूगोल भाषा की विविधता को कैसे प्रभावित करता है*, के लिए *एथनोलॉग* के पुराने डैटा का उपयोग किया जिसके लिए वे पहले भुगतान कर चुके थे, क्योंकि ताज़ा डैटा हासिल करने में कई हज़ार डॉलर का शुल्क आता।

साइमन्स समझते हैं कि भाषाविद क्यों परेशान हैं। लेकिन उनका कहना है कि आर्थिक हालात बदलने तक वे शुल्क में राहत नहीं दे सकते। 2013 के बाद से साइमन्स और SIL के मुख्य नवाचार विकास अधिकारी स्टीफन मोइतोजो *एथनोलॉग* को विकसित करने और इसे आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

मोइतोजो का कहना है कि उन्हें लगता था कि *एथनोलॉग* का उपयोग करने वाले अधिकतर लोग अकादमिक शोधकर्ता हैं लेकिन *वेबलॉग ट्रैफिक* के अनुसार *एथनोलॉग* का उपयोग करने वालों में सिर्फ 26 प्रतिशत ही अकादमिक शोधकर्ता हैं। अन्य उपयोगकर्ताओं में हाई स्कूल छात्रों और सलाहकारों के अलावा, अदालतों, अस्पतालों और आप्रवास कार्यालयों के लिए दुभाषिया तलाशने वाले हैं। बहुत सारे संगठन अपने दैनिक कार्य के लिए *एथनोलॉग* पर निर्भर हैं।

साइमन्स स्वतंत्र शोधकर्ताओं और जिन छात्रों के संस्थानों के पास *एथनोलॉग* की सदस्यता नहीं है, उनके लिए बेहतर विकल्प लाने की उम्मीद रखते हैं। वे सोचते हैं कि अगर हम इसे इस तरह बना पाए कि जिन लोगों का काम वास्तव में *एथनोलॉग* पर निर्भर है वे इसकी वाजिब सदस्यता लें, तब उन लोगों के बारे में सोच सकते हैं जो यह शुल्क वहन नहीं कर सकते। ***(स्रोत फीचर्स)***

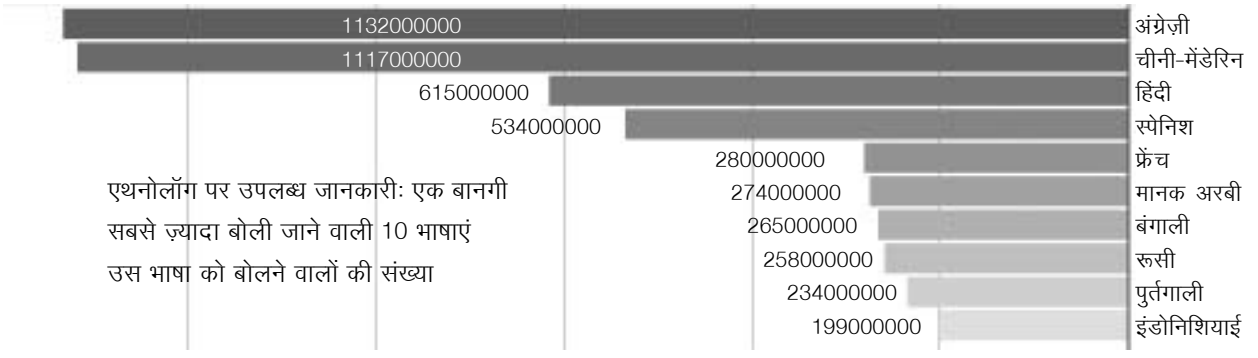

फेसबुक डैटा शोधकर्ताओं के लिए उपलब्ध

लंबे समय से शोधकर्ता फेसबुक डैटा का अध्ययन कर यह समझना चाहते थे कि हालिया राजनैतिक घटनाओं के दौरान दुनिया भर के लोगों ने कैसे जानकारियां और गलत जानकारियां साझा की थीं। उनका यह इंतज़ार अब खत्म हुआ है। फेसबुक ने 13 फरवरी 2020 को अपना डैटा शोधकर्ताओं को अध्ययन के लिए उपलब्ध करा दिया है। हालांकि डैटा तक पहुंच के साथ शोधकर्ताओं को डैटा ठीक से ना पढ़ पाने सम्बंधी मुश्किलें भी मिली हैं।

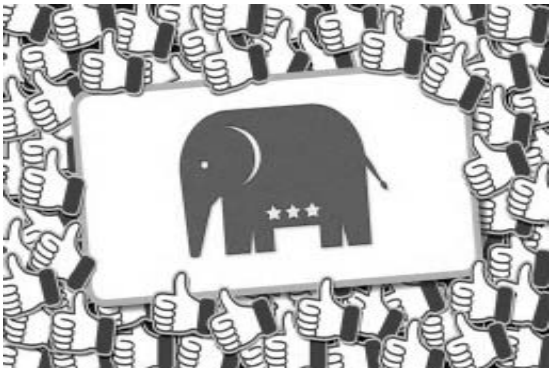

दरअसल फेसबुक ने अप्रैल 2018 में यह घोषणा की थी कि वह जल्द ही समाज वैज्ञानिकों को लोगों द्वारा साझा की गई लिंक का डैटा उपलब्ध कराएगा। लेकिन घोषणा के बाद फेसबुक के डैटा विशेषज्ञों ने पाया कि इस तरह डैटा उपलब्ध कराना उपयोगकर्ताओं की गोपनीयता के साथ समझौता होगा। इस दिक्कत को सुलझाने के लिए फेसबुक ने डैटा उपलब्ध कराने के पूर्व, डैटा पर डिफ्रेंशियल प्रायवेसी विधि प्रयोग कर उपयोगकर्ताओं की गोपनीयता सुनिश्चित की। यह हाल ही में विकसित एक गणितीय विधि है जो डैटा को अनाम रखती है।

जो डैटा फेसबुक ने उपलब्ध कराया है उसमें जनवरी 2017 से लेकर जुलाई 2019 के बीच फेसबुक उपयोगकर्ताओं द्वारा सार्वजनिक रूप से साझा की गई 3 करोड़ 80 लाख लिंक और उससे सम्बंधित जानकारियां हैं। ये बताती हैं कि क्या फेसबुक उपयोगकर्ता इन लिंक को फर्जी या नकारात्मक मानते थे, या क्या उन्होंने लिंक खोल कर देखी या उन्हें पसंद किया। इसके अलावा फेसबुक ने इन लिंक को साझा करने, पढ़ने और पसंद करने वाले लोगों की उम्र, स्थान, लिंग सम्बंधी जानकारी और उनके राजनैतिक रुझान सम्बंधी जानकारी भी शोधकर्ताओं को दी है।

न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय में राजनीति और रूसी अध्ययन के प्रोफेसर जोशुआ टकर इसे एक बड़ा कदम मानते हैं। इस डैटा की मदद से वे अपने अध्ययन, राजनैतिक रूप से प्रेरित खबरें सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर किस तरह फैलती हैं, को आगे बढ़ाना चाहते हैं।

लेकिन लोगों की पहचान गोपनीय रखने सम्बंधी फेसबुक के समाधान ने शोधकर्ताओं के लिए थोड़ी मुश्किल भी पैदा कर दी है। दरअसल गोपनीयता बनाए रखने के लिए फेसबुक ने डैटा को थोड़ा तोड़-मरोड़ दिया है, जिससे शोधकर्ताओं को जूझना पड़ेगा।

अब यह शोधकर्ताओं पर है कि वे इस बिगड़े स्वरूप के डैटा को अर्थपूर्ण बनाने के लिए क्या तरीके अपनाते हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

स्रोत के ग्राहक बनें, बनाएं

वार्षिक सदस्यता

व्यक्तिगत 300 रुपए संस्थागत 300 रुपए

गंध और मस्तिष्क का रिश्ता

डॉ. विपुल कीर्ति शर्मा

गंध से हमारा बेहद करीबी रिश्ता रहा है। पकवानों की खुशबू से ही हम यह बता देते हैं कि पड़ोसी के घर में क्या बना है। गरमा-गरम कचोरी, कढ़ाई से उतरती सेव व पकोड़े, पके आम व खरबूज़े की मीठी खुशबू हो या चंदन, गुलाब, मोगरा, चंपा आदि के इत्र की मदहोश कर देने वाली गंध हमें दीवाना बनाने के लिए काफी है। अलबत्ता, हममें से कुछ ऐसे भी हैं जो तपेली में जलते हुए दूध, बासी दाल और हींग जैसी तेज़ गंध को भी नहीं सूंघ पाते।

स्वाद की तरह गंध भी एक रासायनिक संवेदना है। हमारे आसपास का वातावरण गंध के वाष्पशील अणुओं से भरा हुआ है। जब हम नाक से सांस खींचते हैं तो गंध के अणु नाक के भीतर रासायनिक ग्राहियों से क्रिया करके संदेश को मस्तिष्क में पहुंचा देते हैं। अभी तक यही समझा जाता था कि मस्तिष्क के कुछ विशेष हिस्से (जैसे घ्राण बल्ब) गंध संदेशों की विवेचना कर हमें गंध का बोध कराते हैं। लेकिन कुछ ही समय पहले एक शोध टीम ने कुछ ऐसी महिलाओं की खोज की है जिनकी सूंघने की क्षमता तो सामान्य है परन्तु उनके मस्तिष्क में घ्राण बल्ब नहीं है।

विभिन्न जंतुओं में गंध को पहचानने वाले जीन्स की संख्या अलग-अलग होती है। वैज्ञानिकों का मानना है कि अक्सर गंध के जीन्स की संख्या का सीधा सम्बंध गंध संवेदना से है - ज़्यादा जीन्स मतलब सूंघने की बेहतर क्षमता। विभिन्न प्रजातियों पर किए गए एक अध्ययन से निष्कर्ष निकला है कि हाथी, भालू और शार्क कुछ ऐसे जंतु हैं जिनमें सूंघने की क्षमता बहुत विकसित होती है। भालू की सूंघने की क्षमता बेहद तगड़ी है। ये सुगंध का पीछा करते-करते जंगलों से बाहर मानव आवास, कैम्प स्थल तथा कूड़ेदानों तक पहुंच जाते हैं। हालांकि भालू का मस्तिष्क मानव मस्तिष्क का केवल एक तिहाई ही होता है परन्तु अग्र मस्तिष्क में स्थित घ्राण बल्ब मनुष्यों के मुकाबले पांच गुना बड़े होते हैं। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि मानव की तुलना में भालू में गंध को ग्रहण करने की क्षमता 2000 गुना से भी बेहतर है। भालू न केवल भोजन बल्कि यौन साथी की खोज, खतरे और शावकों पर नज़र रखने के लिए भी गंध का उपयोग करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि मादा भालू अपने बच्चों की निगरानी उन पर निगाह रखे बगैर भी कर सकती है। मांसाहारी ध्रुवीय भालू बर्फ से ढंके विशाल भू-भाग में 150 कि.मी. की दूरी से प्रणय को आतुर मादाओं की गंध पहचान लेते हैं। भारतीय जंगलों के भालू भी 30 कि.मी. दूर से मृत जानवर की गंध पहचानकर उस ओर खिंचे चले आते हैं।

ग्रेट व्हाइट शार्क में घ्राण ग्रंथियां बेहद विकसित होती हैं। कुत्तों के समान विकसित सूंघने की क्षमता के चलते इसे

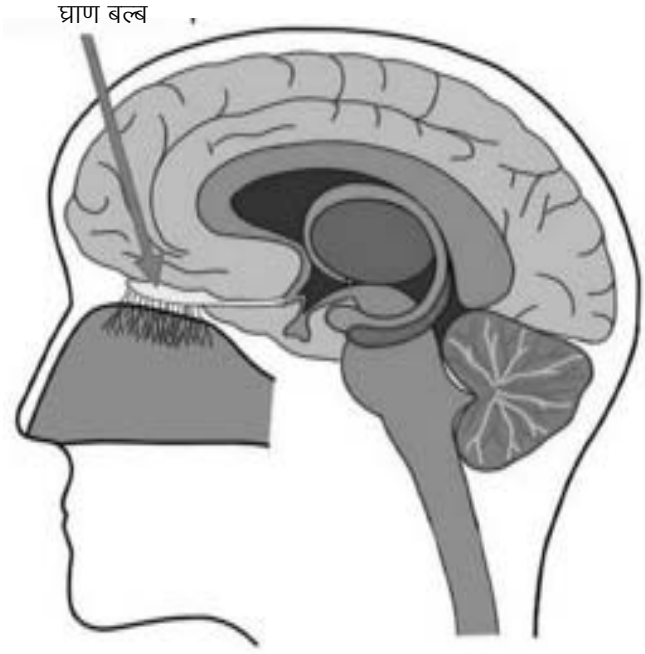

डॉग फिश भी कहा जाता है। ग्रेट व्हाइट शार्क में तो मस्तिष्क का दो तिहाई हिस्सा गंध की संवेदनाओं के लिए निर्धारित होता है। शार्क के नथुनों से लगातार पानी बहता रहता है और गंध के अणु रिसेप्टर्स से जुड़कर संवेदना देते रहते हैं।

अफ्रीकन हाथियों में खुशबू लेने वाले जीन्स की संख्या 1948 होती है। गंध के जीन्स किस खूबी से हाथियों में कार्य करते हैं, यह तब पता चलता है जब पानी को खोजते हुए हाथी 20 कि. मी. दूर से आती गंध को पहचान कर उस स्थान पर पहुंच जाते हैं। बहु-उपयोगी सूंड में ही गंध को पहचानने वाले रिसेप्टर्स पाए जाते हैं।

इस्राइल के वाइज़मैन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस में शोधकर्ता ताली वीस और नोआम सोबेल की टीम गंध एवं प्रजनन क्षमता के बीच सम्बंध की तलाश में मस्तिष्क का एमआरआई देख रही थी। अनेक वालंटियर्स की जांच के दौरान उन्होंने पाया कि एक महिला के मस्तिष्क में घ्राण बल्ब है ही नहीं। यह एक असामान्य घटना थी परन्तु पूर्व के शोध भी बताते हैं कि 10,000 में से एकाध मनुष्य में घ्राण बल्ब नहीं होता है और वे गंध नहीं सूंघ सकते।

उस महिला से पूछा गया कि क्या वह गंध नहीं पहचान सकती? महिला इस बात पर दृढ़ रही कि उसकी गंध सूंघने की क्षमता बेहतरीन है। शंका से भरे वैज्ञानिकों ने महिला की गंध पहचानने की क्षमता पर अनेक परीक्षण किए और आश्चर्यजनक रूप से महिला ने गंध पहचानने की उत्तम क्षमता का परिचय दिया। आम तौर पर घ्राण बल्ब और उससे निकले न्यूरॉन्स गंध की पहचान में महत्वपूर्ण माने जाते हैं। शोध के दौरान कुछ ही समय में एक और ऐसी महिला मिली जिसकी सूंघने की क्षमता तो बेहतरीन थी परन्तु गंध के अणुओं को ज्ञात करने वाला मस्तिष्क का भाग अनुपस्थित था।

शोधकर्ताओं ने शंका के समाधान के लिए ह्यूमन कनेक्टोम प्रोजेक्ट की ओर रुख किया जो प्रतिभागियों के गंध स्कोर एकत्रित करता है। 600 महिलाओं और 500 पुरुषों से प्राप्त आंकड़ों में खोजबीन करने पर तीन महिलाएं ऐसी निकलीं जिनकी सूंघने की शक्ति तो बहुत अच्छी थी परन्तु उन सबके मस्तिष्क में घ्राण बल्ब का अभाव था। ऐसी महिलाओं का प्रतिशत केवल 0.6 था।

उपरोक्त तीनों महिलाओं में से एक लेफ्ट हेण्डेड थी। आंकड़े और खंगालने तथा एमआरआई एवं गंध परीक्षण करने पर तीन और महिलाएं मिलीं जिनमें से एक ऐसी थी जिसके मस्तिष्क में घ्राण बल्ब नहीं था और सूंघने की क्षमता भी नहीं थी। बाकी दोनों अन्य सामान्य व्यक्तियों के समान ही अधिकांश गंधों को पहचान सकती थीं। अब यह देखने की कोशिश की गई कि प्रतिभागी कौन-सी गंधों को पहचानते हैं। इसके लिए लगभग समान आयु की 140 महिलाओं को दो गंध सुंघाकर यह पता लगाया गया कि क्या वे अंतर कर पाती हैं? फिर बगैर घ्राण बल्ब वाली महिलाओं और बाकी सभी सामान्य महिलाओं में सूंघने की क्षमता में तुलनात्मक अंतर देखा गया। घ्राण बल्ब रहित महिलाएं बाकी सभी के विपरीत एक जैसी गंध पहचानती थीं। पूरे शोध से दो निष्कर्ष प्राप्त हुए। एमआरआई के आंकड़ों में से केवल महिलाएं ही ऐसी थीं जिनमें घ्राण बल्ब नहीं थे और वे भी ऐसी थी जो लेफ्ट हेण्डेड (खब्बू) थीं। इस विषय पर शोध कार्य कर रहे वैज्ञानिक सोबेल ने पाया कि ब्रेन स्केन के आंकड़े लेते समय लेफ्ट हेण्डेड महिलाओं को छोड़ ही दिया गया था क्योंकि उनकी वजह से आंकड़ों में असमानता एवं भिन्नता उत्पन्न हो रही थी।

अभी तक यह स्पष्ट नहीं है कि बगैर घ्राण बल्ब के इन महिलाओं में गंध पहचानने की क्षमता कैसे विकसित हो गई। एक परिकल्पना के अनुसार घ्राण बल्ब के बगैर पैदा होने के बाद शैशवावस्था में ही मस्तिष्क ने गंध को पहचानने का अन्य तरीका निकाल लिया और उसका एक अन्य हिस्सा इस कार्य को करने लगा। या शायद हमें घ्राण बल्ब की आवश्यकता सूंघने, गंध पहचानने और गंध में अंतर करने में पड़ती ही नहीं है।

तो शायद अभी तक हम जैसा समझते थे, घ्राण बल्ब वैसा सूंघने का कार्य करते ही नहीं है। यह भी हो सकता है कि वे घ्राण बल्ब बताते है कि गंध किस दिशा से आ रही है। इसलिए आप खाने की गंध कहां से आ रही है तुरंत बता देते हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

साढ़े पांच हज़ार वर्ष पुरानी चुईंगम

डॉ. विपुल कीर्ति शर्मा

चुईंगम को चबाते हुए हमने कई अठखेलियां की हैं। हाल ही में दक्षिणी डेनमार्क से 5700 वर्ष पूर्व इंसानों द्वारा चबाए गए टार के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। बर्च नामक पेड़ की छाल को चबाने से बनी चिपचिपी एवं काली टार की इस चुईंगम को चबाते-चबाते उन लोगों ने अपने कई रहस्य उसमें कैद कर दिए। इनकी मदद से आज के वैज्ञानिक उनके रहन-सहन और खान-पान की आदतों का पता लगा सकते हैं।

5700 वर्ष पूर्व के प्राचीन डेनमार्क निवासी शिकार करके अपना जीवन यापन करते थे। वे तीर के सिरे पर नुकीले पत्थर चिपकाने के लिए या पत्थरों के सूक्ष्म औजारों को लकड़ी पर चिपकाने के लिए चिपचिपे टार का उपयोग करते थे। टार प्राप्त होता था बर्च नामक पेड़ की छाल को चबाने से। लगातार चबाने से टार चुईंगम के समान नरम हो जाता था और औज़ारों को चिपकाने-सुधारने के काम आता था। शायद, टार में पाए जाने वाले एन्टिसेप्टिक तेल और रसायन का उपयोग दांत दर्द से राहत पहुंचाने के लिए भी किया जाता हो। यह भी हो सकता है कि आज के बच्चों के समान उस समय के बच्चे भी टार की चुईंगम से खिलवाड़ करते रहे हों। टार की चुईंगम को चबाते-चबाते मुंह के अंदर की टूटी कोशिकाएं, भोजन के कण एवं सूक्ष्मजीव भी उसमें संरक्षित हो गए थे। यह प्राचीन चुईंगम वैज्ञानिकों को प्राचीन मानव के डीएनए का अध्ययन करने का बेहतरीन अवसर दे रही है।

नेचर कम्यूनिकेशन में दी एनशियंट डीएनए (प्राचीन डीएनए) नामक शोध पत्र में बताया गया है कि प्राचीन चुईंगम से प्राप्त डीएनए उस क्षेत्र में बसे लोगों की शारीरिक रचना तथा उनके भोजन और दांतों पर पाए जाने वाले जीवाणु के सुराग देता है।

कोपेनहेगन विश्वविद्यालय के पुरातत्ववेत्ता हेंस श्रोडर ने बताया है कि अक्सर वैज्ञानिक डीएनए अध्ययन के लिए हड्डियों का उपयोग करते हैं क्योंकि उनका कठोर आवरण अंदर नाज़ुक कोशिकाओं और डीएनए को संरक्षित कर लेता है। परंतु, इस शोध में वैज्ञानिकों ने हड्डियों के बजाय प्राचीन टार की चुईंगम का उपयोग किया। उन्होंने यह भी बताया कि टार की चुईंगम से बहुत से जीवाणुओं के संरक्षित डीएनए भी प्राप्त हुए हैं।

शोधकर्ताओं को टार की चुईंगम पिछले साल खोजबीन के दौरान एक सुरंग से प्राप्त हुई थी। डॉ. श्रोडर ने कहा कि इस स्थान से प्राप्त जीवाश्म के अध्ययन से ज्ञात होता है

कि इस इलाके के रहने वाले लोग मुख्य रूप से मछली पकड़ने, शिकार करने और जंगली बेर और फल खाकर अपना जीवन यापन करते थे। यद्यपि, आसपास के इलाकों में लोगों ने खेती और पशुपालन भी प्रारंभ कर दिया था।

जब शोधकर्ताओं ने 5700 साल पुरानी टार की चुईंगम में संरक्षित मानव डीएनए का विश्लेषण किया तो पाया कि जिसने उसे चबाया था वह एक महिला थी जो शिकारी समुदाय से अधिक निकटता रखती थी। वैज्ञानिकों ने उस महिला का नाम लोला रखा। लोला के डीएनए को पूरा पढ़ने के बाद उसी क्षेत्र की वर्तमान आबादी के डीएनए आंकड़ों का तुलनात्मक विश्लेषण करके वैज्ञानिकों का अनुमान है कि लोला की त्वचा का रंग गहरा था, बाल भी गहरे रंग के थे तथा आंखों का रंग नीला था। वह लेक्टोस असहिष्णुता से ग्रसित थी जिसके कारण वह दूध की शर्करा का पाचन नहीं कर सकती थी।

डीएनए में क्षारों के अनुक्रम को पढ़कर व्यक्ति के रंग-रूप, कद-काठी एवं अन्य लक्षणों से चेहरे और शरीर का पुनर्निर्माण करना अब कोई आश्यर्चजनक कार्य नहीं रह गया है। वैज्ञानिकों ने कुछ ही समय पहले दस हज़ार वर्ष पुराने एक ब्रिटिश व्यक्ति (चेडर मेन) के कंकाल को देखकर और डीएनए को पढ़कर उसके शारीरिक लक्षणों का अंदाज़ लगाया था।

टार की चुईंगम से प्राप्त कुछ अन्य डीएनए नमूनों से यह भी ज्ञात हुआ है कि लोला ने टार की चुईंगम को चबाने से पहले हेसलनट तथा बतख खाई थी। बर्च टार से बैक्टीरिया एवं वायरस का डीएनए भी प्राप्त हुआ है। हम सभी के मुंह और आंत में बैक्टीरिया, वायरस और फफूंद होती हैं। अतः प्राप्त सबूतों से लोला के मुंह में पाए जाने वाले सूक्ष्मजीव संसार (माइक्रोबायोम) का अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

लोला की चुईंगम से कई बैक्टीरिया भी प्राप्त हुए हैं जो दांतों में प्लाक और जीभ पर भी पाए जाते हैं। चुईंगम से प्राप्त एक बैक्टीरिया *पोकायरोमोनास जिंजिवेलिस* मसूड़ों की बीमारी का द्योतक है। चुईंगम में *स्ट्रेप्टोकोकस न्यूमोनिया* जैसे अन्य प्रकार के बैक्टीरिया एवं वायरस भी प्राप्त हुए हैं जो लोला के स्वास्थ्य का सुराग देते हैं।

छोटे से गम के टुकड़े से जानकारी का खजाना प्राप्त करना उत्कृष्ट शोध का नमूना है। अलबत्ता, वैज्ञानिक लोला की उम्र ज्ञात नहीं कर पाए हैं। और निश्चित तौर पर यह भी कहा नहीं जा सकता कि लोला ने चुईंगम को क्यों चबाया था। ***(स्रोत फीचर्स)***

वर्ग पहेली 186 का हल

1अ	व	2र	क्त		3आ	य	4त	न
ति		त		5बो	स		ल	
6सा	व	न			7व	रा	ह	
र		8जो	म्ति	9य	न		10टी	का
		त		या		11शी		
12भा	13ग		14प्र	ति	श	त		15अ
	16ज	ल	ज			17ल	ला	ट
	दं		18न	क्शा		ह		क
19क	त	र	न		20प	र	म	ल

• विज्ञान • विज्ञान शिक्षण • बच्चों और शिक्षकों के साथ अनुभव • कहानी
• शिक्षा शास्त्र एवं शिक्षण विधि • पुस्तक अंश / पुस्तक समीक्षा • भाषा शिक्षण

***वार्षिक सदस्यता* 300 रुपए**

सदस्यता शुल्क एकलव्य, भोपाल के नाम ड्राफ्ट या मनीऑर्डर या मल्टीसिटी चेक से भेजें।

प्राचीन मिस्र के पुजारियों की कब्रगाह मिली

मिस्र के पुरावशेष मंत्रालय द्वारा जारी की गई एक रिपोर्ट के अनुसार हाल ही में पुरातत्वविदों ने एक विशाल कब्रगाह खोज निकाला है। इस कब्रगाह में प्राचीन मिस्र के मुख्य पुरोहितों के साथ उनके सहायकों की कब्रें पाई गई हैं। अभी तक पुरातत्वविद 20 पाषाण-ताबूत निकाल पाए हैं जो उच्च कोटि के चूना पत्थर से तैयार किए गए थे। मिस्र की सुप्रीम काउंसिल ऑफ एंटीक्विटीज़ के महासचिव मुस्तफा वज़ीरी के अनुसार यह स्थान काहिरा से लगभग 270 किलोमीटर दक्षिण में स्थित है।

इसके अलावा खुदाई में सोने और कीमती पत्थर से बने 700 तावीज़, चमकदार मिट्टी से बनी 10,000 से अधिक शाबती (ममीनुमा) मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। प्राचीन मिस्रवासियों का ऐसा मानना था कि शाबती मूर्तियां मरणोपरांत मृतकों की सेवा करती हैं। शोधकर्ताओं को अभी तक इन ममियों की कुल संख्या के बारे में तो कोई जानकारी नहीं है लेकिन अभी भी खुदाई का काम जारी है और आगे इस तरह के और ताबूत मिलने की संभावना है।

ऐसा माना जा रहा है कि यह प्राचीन कब्रें 'उत्तर काल' (664-332 ईसा पूर्व) के दौर की हैं जब प्राचीन मिस्र के लोग नूबियन, असीरियन और ईरानी लोगों से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। ये कब्रें इस काल के शुरुआत की लगती हैं (लगभग 688 से 525 ईसा पूर्व) जिस समय उन्होंने नूबियन शासन से स्वतंत्रता प्राप्त की थी।

यह उत्तर काल 332 ईसा पूर्व में सिकंदर की सेनाओं के मिस्र में प्रवेश करने के साथ समाप्त हुआ। सिकंदर की मृत्यु के बाद 323 ईसा पूर्व में सिकंदर के एक जनरल टोलेमी प्रथम और उसके वंशजों ने लगभग तीन शताब्दियों तक मिस्र पर शासन किया। इसके बाद 30 ईसा पूर्व से रोम साम्राज्य ने मिस्र पर शासन किया।

भले ही कई विदेशी शक्तियों ने मिस्र पर राज किया था फिर भी वहां की धार्मिक परंपरा लगातार फलती-फूलती रही। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि रोमन सहित विभिन्न विदेशी शासकों ने मिस्र की प्राचीन धार्मिक परंपराओं का हमेशा से सम्मान किया था। ***(स्रोत फीचर्स)***

तीन हज़ार साल पुराना शव बोला!

शायद यह बात सुनने में अटपटी लगे कि कोई मुर्दा बोला। लेकिन हाल ही में वैज्ञानिकों ने एक ऐसी ऑडियो क्लिप रिलीज़ की है जिसमें उन्होंने मृत व्यक्ति की आवाज़ रिकॉर्ड की है। और यह जिस मृत व्यक्ति की आवाज़ है वह एक 3000 साल पुरानी मिस्र की ममी है जिसका नाम नेसियामुन रखा गया है।

चूंकि हर व्यक्ति की भिन्न आवाज़ के लिए वोकल ट्रैक्ट (ध्वनि मार्ग) की लंबाई-चौड़ाई ज़िम्मेदार होती है, इसलिए वैज्ञानिकों ने ममी की आवाज़ को पुनः निर्मित करने के लिए ममी का कंप्यूटेड टोमोग्राफी स्कैन (सी.टी स्कैन) किया और ममी के ध्वनि मार्ग के आकार की माप हासिल कर ली।

और इसकी मदद से उन्होंने नेसियामुन के ध्वनि मार्ग का एक त्रि-आयामी मॉडल बनाया। फिर इसे इलेक्ट्रॉनिक स्वर यंत्र (कृत्रिम लैरिंक्स) से जोड़ा जिसने ध्वनि मार्ग के लिए ध्वनि के स्रोत की तरह कार्य किया। इस सेटअप से वैज्ञानिकों ने नेसियामुन की आवाज़ पैदा की। हालांकि जो आवाज़ वे पैदा कर पाए हैं वो सुनने में भेड़ के मिमियाने जैसी सुनाई पड़ती है लेकिन इससे नेसियामुन के आवाज़ कैसी होगी इसका अंदाज़ लगता है।

नेसियामुन के ताबूत पर लिखी जानकारी और उसके साथ दफन चीज़ों के आधार पर वैज्ञानिक बताते हैं कि वह एक मिस्री पादरी और मुंशी थे, जो संभवतः गुनगुनाते रहे होंगे और भगवान से बातें करते रहे होंगे। यह उनके धार्मिक कामकाज का ही हिस्सा रहा होगा। उनके ताबूत पर लिखी इबारत से पता चलता है कि नेसियामुन की इच्छा थी कि वे भगवान के दर्शन करें और उससे बातचीत करें, जैसा कि वे अपने जीवनकाल में भी करते रहे थे। शुक्र है आधुनिक टेक्नॉलॉजी का, अब मरने के बाद, वे हम सबसे बातें कर पा रहे हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

बिल्ली को मिली कृत्रिम पैरों की सौगात

हाल ही में रूस के नोवोसिबर्स्क चिकित्सालय के पशु चिकित्सकों ने अपने चारों पैर गंवा चुकी एक बिल्ली में 3-डी प्रिंटिंग की मदद से बनाए गए कृत्रिम पैर सफलतापूर्वक प्रत्यारोपित कर दिए हैं। इनकी मदद से वह चल-फिर सकती है, दौड़ सकती है और यहां तक कि सीढ़ियां भी चढ़ सकती है।

भूरे बालों वाली डाइमका नामक यह बिल्ली दिसंबर 2018 में साइबेरिया के नोवाकुज़नेत्स्क नाम की जगह पर एक मुसाफिर को बर्फ में दबी हुई मिली थी। उसने उसे वहां से निकालकर नोवोसिबर्स्क चिकित्सालय पहुंचा दिया था। डाइमका तुषाराघात की शिकार हुई थी और अपने चारों पैर, कान और पूंछ गंवा चुकी थी।

तुषाराघात यानी फ्रॉस्ट बाइट तब होता है जब अत्यंत कम तापमान त्वचा व अंदर के ऊतकों को जमा देता है। खासकर नाक, उंगलियां और पंजे ज़्यादा प्रभावित होते हैं। पैरों की हालात देखकर पशु चिकित्सक सर्जेई गोर्शकोव ने उसे कृत्रिम पैर लगाना तय किया। उन्होंने टोम्स पॉलिटेक्निक युनिवर्सिटी के शोधकर्ताओं के साथ मिलकर डाइमका के लिए कृत्रिम पैर तैयार किए।

इसके लिए उन्होंने कंप्यूटेड टोमोग्राफी (सीटी) एक्स-रे स्कैन की मदद से डाइमका के पैरों की माप लेकर टाइटेनियम रॉड का त्रि-आयामी प्रिंटिंग करके कृत्रिम पैर बनाए। प्रत्यारोपण के बाद डाइमका में संक्रमण और रिजेक्शन

की संभावना कम करने के लिए टाइटेनियम से बने पैरों पर कैल्शियम फॉस्फेट की परत चढ़ाई गई। जुलाई 2019 में डाइमका को सामने के दो और उसके बाद पीछे के दो कृत्रिम पैर प्रत्यारोपित किए गए। प्रत्यारोपण के सात महीने बाद जारी किए गए वीडियो में डाइमका अंगड़ाई लेती, चलती और कंबल के कोने से खेलती दिखाई दी।

गोर्शकोव ने *दी मास्को टाइम्स* को बताया कि साइबेरिया के हाड़-मांस गला देने वाले ठंड के मौसम के दौरान उनके चिकित्सालय में हर साल ऐसी पांच से सात बिल्लियों का उपचार किया जाता है जो तुषाराघात के कारण अपने पैर, नाक, कान और पूंछ गंवा देती हैं।

डाइमका अब दुनिया की दूसरी बिल्ली है जिसे धातु से बने चारों पैर सफलतापूर्वक लगाए जा चुके हैं। इसके पहले साल 2016 में भी इसी प्रक्रिया से एक नर बिल्ली को चारों पैर लगाए गए थे। ***(स्रोत फीचर्स)***

आसान नहीं है चीतों का पुनर्वास

प्रमोद भार्गव

भारत ही नहीं, पूरी दुनिया में औद्योगिक विकास और बढ़ते शहरीकरण के चलते वन्य जीवों के सामने चुनौतीपूर्ण हालात उत्पन्न हो गए हैं। उनके संरक्षण एवं पुनर्वास की अनेक कोशिशों के बावजूद न तो संरक्षण की स्थिति संतोषजनक हुई है और न ही गिरवन के सिंह जैसे दुर्लभ प्राणियों का पुनर्वास कूनो-पालपुर अभयारण्य में संभव हो पाया है।

सर्वोच्च न्यायालय ने 74 साल पहले भारत में पूरी तरह लुप्त हो चुके चीते के पुनर्वास की अनुमति मध्यप्रदेश सरकार के वन विभाग को दी थी। टाइगर स्टेट का दर्जा प्राप्त मध्यप्रदेश में इन चीतों को दक्षिण अफ्रीका के नमीबिया से लाकर सागर जिले के नौरादेही अभयारण्य में नया ठिकाना बनाया जाएगा।

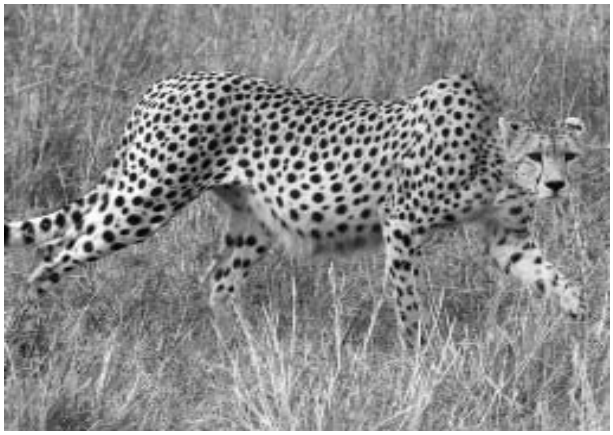

यहां पिछले एक दशक से चीतों को बसाने के लिए अनुकूल परिस्थितियां बनाई जा रही हैं। दरअसल, चीते को घास के मैदान वाले जंगल पसंद हैं और नौरादेही इसी के लिए जाना जाता है। हालांकि इन्हें बसाने के विकल्प के रूप में श्योपुर ज़िले का कूनो-पालपुर अभयारण्य और राजस्थान के शाहगढ़ व जैसलमेर के थार क्षेत्र भी तलाशे गए थे, लेकिन इन वनखंडों में चीतों के अनुकूल प्राकृतिक आहार, प्रजनन व आवास की सुविधा न होने के कारण नौरादेही को ज़्यादा श्रेष्ठ माना गया। यह अनुमति राष्ट्रीय बाघ संरक्षण प्राधिकरण (एनटीसीए) की याचिका पर दी गई है।

एक समय था जब चीते की रफ्तार भारतीय वनों की शान हुआ करती थी। लेकिन 1947 आते-आते चीतों की आबादी पूरी तरह लुप्त हो गई। 1948 में अंतिम चीता छत्तीसगढ़ के सरगुजा में देखा गया था जिसे मार गिराया गया था। चीता तेज़ रफ्तार का आश्चर्यजनक चमत्कार माना जाता है। अपनी विशिष्ट लोचपूर्ण देहयष्टि के लिए भी इस हिंसक वन्य जीव की अलग पहचान थी। शरीर में इसी चपलता के कारण यह सबसे तेज़ धावक था। इसलिए इसे जंगल की बिजली भी कहा गया।

मध्यप्रदेश में चीतों की बसाहट की जाती है तो नौरादेही के 53 आदिवासी बहुल ग्रामों को विस्थापित करना होगा। इस अभयारण्य के विस्तार के लिए 1100 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र प्रस्तावित है। यह इलाका सागर, नरसिंहपुर एवं छतरपुर ज़िलों में फैला हुआ है। सबसे ज़्यादा विस्थापित किए जाने वाले 20 गांव सागर ज़िले में हैं। इनमें से 10 गांवों का विस्थापन पहले ही किया जा चुका है। शेष छतरपुर व नरसिंहपुर ज़िलों के राजस्व ग्राम हैं, जिनका विस्थापन होना है। अर्थात जितना कठिन चीतों का पुनर्वास है, उससे ज़्यादा कठिन व खर्चीला काम गांवों का विस्थापन है। देश में चीतों एवं सिंहों के पुनर्वास के प्रयत्न अब तक असफल ही रहे हैं।

दरअसल, 1993 में चार चीते दक्षिण अफ्रीका के जंगलों से दिल्ली के चिड़ियाघर में लाए गए थे। वैसे चीतों द्वारा चिड़ियाघरों में प्रजनन अपवाद घटना होती है लेकिन चिड़ियाघर में इनके आवास, परवरिश व प्रजनन के पर्याप्त उपाय किए गए थे। लिहाज़ा उम्मीद थी कि ये वंशवृद्धि करेंगे और इनकी संतानों को देश के अन्य चिड़ियाघरों व अभयारण्यों में स्थानांतरित किया जाएगा। बदकिस्मती से, प्रजनन से पहले ही चीते मर गए।

बीती सदी में चीतों की संख्या एक लाख तक थी, लेकिन अफ्रीका के खुले घास वाले जंगलों से लेकर भारत सहित लगभग सभी एशियाई देशों में पाए जाने वाला चीते अब पूरे एशियाई जंगलों में गिनती के रह गए हैं। राजा चीता (*एसिनोनिक्स रेक्स*) जिम्बाब्वे में मिलता है। अफ्रीका के जंगलों में भी गिने-चुने चीते रह गए हैं। तंजानिया के सेरेंगटी राष्ट्रीय उद्यान और नमीबिया के जंगलों में भी गिनती के चीते ही हैं।

प्रजनन के तमाम आधुनिक व वैज्ञानिक उपायों के बावजूद जंगल की इस फुर्तीली नस्ल की संख्या बढ़ाई नहीं जा पा रही है। ज़ुऑलॉजिकल सोसायटी ऑफ लंदन की रिपोर्ट की मानें तो दुनिया में 91 प्रतिशत चीते 1991 में ही समाप्त हो चुके थे। अब पूरी दुनिया में केवल 7100 चीते बचे हैं। एशिया के ईरान में केवल 50 चीते शेष हैं। अफ्रीकी देश केन्या के मासाईमारा क्षेत्र को चीतों का गढ़ माना जाता था, लेकिन अब वहां इनकी संख्या गिनती की रह गई है।

इस सदी के पांचवे दशक तक चीते अमेरिका के चिड़ियाघरों में भी थे। प्राणि विशेषज्ञों की अनेक कोशिशों के बाद इन चीतों ने 1956 में शिशुओं को जन्म भी दिया था। पर किसी भी शिशु को बचाया नहीं जा सका। चीते द्वारा किसी चिड़ियाघर में जोड़ा बनाने की यह पहली घटना थी, जो नाकाम रही। जंगल के हिंसक जीवों का प्रजनन चिड़ियाघरों में आश्चर्यजनक ढंग से प्रभावित होता है, इसलिए शेर, बाघ, तेंदुए व चीते चिड़ियाघरों में जोड़ा बनाने की इच्छा नहीं रखते हैं।

भारत में चीतों की अंतिम पीढ़ी के कुछ सदस्य 1947 में बस्तर-सरगुजा के घने जंगलों में देखे गए थे। प्रदेश अथवा भारत सरकार इनके संरक्षण के ज़रूरी उपाय करने हेतु हरकत में आती, इससे पहले ही चीतों के इन अंतिम वंशजों को भी शिकार के शौकीन राजा-महाराजाओं ने मार गिराया। इस तरह भारतीय चीतों की नस्ल पर पूर्ण विराम लग गया।

हमारे देश के राजा-महाराजाओं को घोड़ों और कुत्तों की तरह चीते पालने का भी शौक था। चीता-शावकों को पालकर इनसे जंगल में शिकार कराया जाता था। राजा लोग जब जंगल में आखेट के लिए जाते थे, तो प्रशिक्षित चीते को बैलगाड़ी में बिठाकर साथ ले जाते थे। उसकी आंखों पर पट्टी बांध दी जाती थी, ताकि वह किसी मामूली वन्य जीव पर न झपटे। जब शिकार राजाओं की दृष्टि के दायरे में आ जाता, तो चीते की आंखों की पट्टी खोलकर शिकार की दिशा में हाथ से इशारा कर दिया जाता था। पलक झपकते ही शिकार चीते के कब्जे में होता। शिकार का यह अद्भुत करिश्मा देखना भी रोमांच की बात रही होगी।

भारत के कई राजमहलों में पालतू चीतों से शिकार करवाने के अनेक चित्र अंकित हैं। मुगल काल में अकबर ने सैकड़ों चीतों को बंधक बनाकर पाला। मध्यप्रदेश में मांडू विजय से लौटने के बाद अकबर ने चंदेरी और नरवर (शिवपुरी) के जंगलों में चीतों से वन्य प्राणियों का शिकार कराया। नरवर के जंगलों में अकबर ने जंगली हाथियों का भी खूब शिकार किया। ग्वालियर रियासत में सिंधिया राजा ने भी चीते पाले हुए थे, लेकिन चीतों को पाले जाने का शगल ग्वालियर रियासत में उन्नीसवीं सदी के अंत तक ही संभव रहा।

मार्को पोलो ने तेरहवीं शताब्दी के एक दस्तावेज़ के हवाले से बताया है कि कुबलई खान ने अपने कारोबारी पड़ाव पर एक हज़ार से भी अधिक चीते पाल रखे थे। इन चीतों के लिए अलग-अलग अस्तबल थे। चीते इस पड़ाव की चौकीदारी भी करते थे। बड़ी संख्या में चीतों को पालतू बनाने से इनके प्रकृतिजन्य स्वभाव और प्रजनन क्रिया पर बेहद प्रतिकूल असर पड़ा। गुलामी की ज़िंदगी व सईस के हंटर की फटकार की दहशत ने इन्हें मानसिक रूप से दुर्बल बना दिया। जब चाहे तब भेड़-बकरियों की तरह हांक लगा देने से भी इनकी सहजता प्रभावित हुई। चीतों की ताकत में कमी न आए इसके लिए इन्हें मादाओं से अलग रखा जाता था। बैलों की तरह नर चीतों को बधिया करने की क्रूरताएं भी राजा-महाराजाओं ने खूब अपनाईं।

चीते की लंबाई साढ़े चार से पांच फीट होती है। बिल्ली प्रजाति के प्राणियों में चीते की पूंछ सबसे ज़्यादा लंबी होती है। पूंछ की लंबाई तीन से साढ़े तीन फीट होती है। इसकी टांगें लंबी और कमर पतली होती है। पूरे तन पर छोटे-बड़े

काले गोल-गोल धब्बे होते हैं। इसकी आंखों की कोरों से काली धारियां निकलकर इसके मुख तक आती हैं। ये धारियां बिल्ली प्रजाति के अन्य प्राणियों में नहीं होतीं। इसके गालों का हिस्सा उभरा हुआ होता है तथा सिर शरीर के अनुपात में थोड़ा छोटे होने के साथ धनुषाकार होता है, जिससे दौड़ते वक्त फेफड़ों से छोड़ी गई हवा के आवागमन कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

चीते की तेज़ गति में सबसे ज़्यादा सहायक है इसकी छल्लों युक्त रीढ़ की हड्डी। इन्हीं छल्लों के कारण रीढ़ की हड्डी में ज़बरदस्त लोच होता है। गति पकड़ने के लिए अगले व पिछले पैर फेंकते वक्त यह आश्चर्यजनक ढंग से झुक जाती है व स्प्रिंग की तरह फैल जाती है। इसी विशिष्टता के कारण चीता जब दौड़ने की शुरुआत करता है, तो दो सेकंड के भीतर 72 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार पकड़ लेता है। बाद में इसकी यह रफ्तार 115 से 120 किलोमीटर प्रति घंटा तक पहुंच जाती है। यह क्षमता जंगल के किसी अन्य प्राणी में नहीं पाई जाती। लेकिन चीते की यह रफ्तार कुछ गज़ की दूरी तक ही स्थिर रह पाती है। अपनी इसी रफ्तार के कारण चीता काला हिरण को दबोचने वाला एकमात्र हिंसक प्राणी था। काला हिरण शाकाहारी प्राणियों में सबसे तेज़ दौड़ने वाले प्राणी है। अब खुले जंगल में काले हिरण को पकड़ने का बीड़ा बिल्ली प्रजाति का कोई भी प्राणि नहीं उठाता।

चीता बिल्ली प्रजाति के अन्य प्राणियों की तरह अपना शिकार रात में न करके दिन में करता है। इसके ज़्यादातर शिकार छोटे प्राणी होते हैं। शिकार दृष्टिगत होते ही चीता शिकार की तरफ दबे पैरों से आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ता है और जैसे ही शिकार इसकी तूफानी गति के दायरे में आ जाता है, यह तत्परता से गति में आकर शिकार को दबोच लेता है। यह कार्रवाई इतनी आनन-फानन में होती है कि शिकार संभल भी नहीं पाता। चीता अपनी कोशिश में यदा-कदा ही नाकाम होता है। इसके प्रिय शिकार काला हिरण और चिंकारा हैं। शिकार से उदरपूर्ति करने के बाद चीता चट्टानों की गहरी गुफाओं अथवा घने जंगलों में आराम फरमाता है।

चीते दो-तीन के झुंडो में भी रह लेते हैं, और अकेले भी, लेकिन ज़्यादातर अकेले रहना पसंद करते हैं। इनके जोड़ा बनाने का समय तय नहीं होता। ये पूरे साल जोड़ा बनाने में सक्षम होते हैं।

शिशुओं की उम्र तीन माह की हो जाने के बाद ही इनके बदन पर काले धब्बे उभरना शुरू होते हैं। चिड़ियाघरों में चीतों की आयु 15-16 वर्ष तक देखी गई है। इनकी औसत आयु 20 साल तक होती है।

दरअसल, एक ओर तो हम विलुप्त होते प्राणियों के संरक्षण में लगे हैं, वहीं दूसरी तरफ आधुनिक विकास इनके प्राकृतिक आवास उजाड़ रहा है। पर्यटन से हम आमदनी की बात चाहे जितनी करें, लेकिन पर्यटकों को बाघ, तेंदुआ व अन्य दुर्लभ प्राणियों को निकट से दिखाने की सुविधाएं, इनके स्वाभाविक जीवन को बुरी तरह प्रभावित करती है। यहां चीते जैसे प्राणियों के आचार-व्यवहार के साथ संकट यह भी है कि ये नई जलवायु में आसानी से ढल नहीं पाते हैं। अतः यह आशंका बरकरार है कि कहीं कूनो-पालपुर की तरह करोड़ों रुपए खर्च करने और 22 ग्रामों को विस्थापित करने के बाद भी नौरादेही में चीते की चाल स्वप्न बनकर ही न रह जाए। ***(स्रोत फीचर्स)***

नींद को समझने में छिपकली की मदद

नींद की उत्पत्ति को समझते हुए वैज्ञानिकों ने ऑस्ट्रेलिया की एक छिपकली में कुछ महत्वपूर्ण सुराग हासिल किए हैं। ऑस्ट्रेलियन दढ़ियल ड्रेगन (*Pogona vitticeps*) में नींद से जुड़े तंत्रिका संकेतों को देखकर शोधकर्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि जटिल नींद का विकास शायद पक्षियों और स्तनधारियों से बहुत पहले हो चुका था। और उनका मानना है कि यह अनुसंधान मनुष्यों को चैन की नींद सुलाने में मददगार साबित होगा।

गौरतलब है कि पक्षियों और स्तनधारियों में नींद दो प्रकार की होती है। एक है रैपिड आई मूवमेंट (REM) नींद जिसके दौरान आंखें फड़फड़ाती हैं, विद्युत गतिविधि मस्तिष्क में गति करती है और मनुष्यों में सपने आते हैं। REM नींद के बीच-बीच में 'धीमी तरंग' नींद होती है। इस दौरान मस्तिष्क की क्रियाएं धीमी पड़ जाती हैं और विद्युत सक्रियता एक लय में चलती हैं। कुछ अध्ययनों से पता चला है कि इस हल्की-फुल्की नींद के दौरान स्मृतियों का निर्माण होता है और उन्हें सहेजा जाता है।

2016 में मैक्स प्लैंक इंस्टिट्यूट फॉर ब्रेन रिसर्च के गिल्स लॉरेन्ट ने खोज की थी कि सरिसृपों में भी दो तरह की नींद पाई जाती है। हर 40 सेकंड में दढ़ियल ड्रेगन इन दो नींद के बीच डोलता है। लेकिन यह पता नहीं लग पाया था कि मस्तिष्क का कौन-सा हिस्सा इन दो तरह की नींदों का संचालन करता है। लॉरेन्ट की टीम ने दढ़ियल ड्रेगन के मस्तिष्क की पतली कटानों में इलेक्ट्रोड्स की मदद से देखने की कोशिश की कि कौन-सी विद्युतीय गतिविधि धीमी तरंग नींद से सम्बंधित है। गौरतलब है कि ऐसी विद्युतीय सक्रियता मृत्यु के बाद भी जारी रह सकती है।

पता चला कि ड्रेगन के मस्तिष्क के अगले भाग में विद्युत क्रिया होती है। यह एक हिस्सा है जिसका कार्य अज्ञात था। और इसके बाद एक अनपेक्षित मददगार बात सामने आई।

लॉरेन्ट के कुछ शोध छात्र छिपकली के मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों में जीन्स की सक्रियता की तुलना चूहों के मस्तिष्क में जीन अभिव्यक्ति से करने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने पाया कि छिपकली के मस्तिष्क का जो हिस्सा धीमी तरंग नींद पैदा करने के लिए ज़िम्मेदार है उसमें जीन्स की सक्रियता चूहों के दिमाग के उस हिस्से से मेल खाती है जिसे क्लॉस्ट्रम कहते हैं। जीन अभिव्यक्ति में इस समानता से संकेत मिला कि संभवतः सरिसृपों में भी क्लॉस्ट्रम पाया जाता है। लॉरेन्ट का कहना है कि क्लॉस्ट्रम नींद को शुरू या खत्म नहीं करता बल्कि मस्तिष्क में नींद के केंद्र से संकेत ग्रहण करता है और फिर पूरे दिमाग में धीमी तरंगें प्रसारित करता है।

चूंकि सरिसृपों में भी क्लॉस्ट्रम पाया गया है, इसलिए ये जंतु नींद के अध्ययन के लिए अच्छे मॉडल का काम कर सकते हैं। ***(स्रोत फीचर्स)***

भेड़ियों की नई प्रजाति विकसित हुई

पृथ्वी के सबसे ऊंचे पहाड़ों के घास के मैदानों में विशेष प्रकार के भेड़िए पाए जाते हैं। उत्तरी भारत, नेपाल, और चीन में पाए जाने वाले ये भेड़िए अपनी लंबी थूथन, हल्के रंग की ऊनी खाल और मोटी आवाज़ के लिए जाने जाते हैं। लेकिन हालिया अध्ययन से पता चला है कि ये रंग-रूप में ही नहीं बल्कि आसपास के इलाकों में पाए जाने वाले अन्य मटमैले भेड़ियों से जेनेटिक रूप से भी अलग हैं। ये जेनेटिक परिवर्तन उनको 4000 मीटर ऊंचाई की विरल हवा में जीने में मदद करते हैं।

इस अध्ययन के प्रमुख और कैलिफोर्निया युनिवर्सिटी के कैनाइन विकास विशेषज्ञ बेन सैक्स के अनुसार यह इन हिमालयी भेड़ियों को विशिष्ट बताने वाले प्रथम प्रमाण हैं। यह खोज इस बात का समर्थन करती है कि इन्हें एक अलग प्रजाति के रूप में पहचाना जाना चाहिए। नए अध्ययन से यह भी पता चला है कि इस भेड़िए का इलाका पहले के अनुमान से दुगना है।

हिमालयी भेड़िए अन्य मटमैले भेड़ियों की तुलना में अधिक ऊंचाई पर रहते हैं और इनकी आदतें भी अलग हैं। ये पूर्वी चीन, मंगोलिया और किर्गिज़स्तान के इलाकों में पाए जाते हैं। मटमैले भेड़िए जहां चूहे, गिलहरी आदि जीवों का शिकार करते हैं वहीं हिमालयी भेड़िए इनके साथ कभी-कभी तिब्बती चिकारों का भी शिकार करते हैं। इनकी गुर्राहट मटमैले भेड़ियों की तुलना में छोटी अवधि की और भारी आवाज़ वाली होती है।

अब किर्गिज़स्तान, चीन के तिब्बतीय पठार और ताजीकस्तान के भेड़ियों के मल से प्राप्त नमूनों के विश्लेषण से इनके एक अलग नस्ल होने का जेनेटिक प्रमाण मिला है। शोधकर्ताओं ने 86 हिमालयी भेड़ियों के मल में डीएनए का अध्ययन किया। विश्लेषण से पता चला कि मटमैले भेड़ियों की तुलना में हिमालयी भेड़ियों में कुछ विशेष जीन होते हैं जो उन्हें ऑक्सीजन की कमी से निपटने में मदद करते हैं। ये जीन उनके हृदय को भी मज़बूत करते हैं और रक्त के ज़रिए ऑक्सीजन के प्रवाह को बढ़ाते हैं। *जर्नल ऑफ बायोजियोग्राफी* में प्रकाशित शोध पत्र के अनुसार इसी प्रकार के अनुकूलन तिब्बती लोगों और उनके पालतू कुत्तों और याक में भी पाए जाते हैं।

शोधकर्ताओं के अनुसार ऊंचे इलाकों में रहने वाले इस जीव को एक अलग प्रजाति के रूप में देखा जाना चाहिए। कम से कम, इसे जैव विकास की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण इकाई तो माना ही जाना चाहिए। ***(स्रोत फीचर्स)***

विज्ञान से जुड़ी नवीनतम जानकारी अब ऑनलाइन उपलब्ध

लिंक पर जाएं: www.srotefeatures.in

www.eklavya.in

क्यों करती है व्हेल हज़ारों किलोमीटर का प्रवास

वैज्ञानिकों को समझ नहीं आता था कि तमाम किस्म की व्हेल - हम्पबैक, ब्लू व्हेल, स्पर्म व्हेल और किलर व्हेल - हर साल हज़ारों किलोमीटर की प्रवास यात्राएं क्यों करती हैं। ये व्हेल आर्कटिक और अंटार्कटिक के अपने सामान्य भोजन स्थल से कई हज़ार कि.मी. दूर गर्म समुद्रों में प्रवास करती हैं। आने-जाने में यह यात्रा करीब 18,000 कि.मी. की होती है।

पहले कुछ वैज्ञानिकों ने सुझाया था कि शायद ये व्हेल प्रजनन हेतु प्रवास करती हैं। उनका कहना था कि आर्कटिक और अंटार्कटिक में कई शिकारी पाए जाते हैं, जिसकी वजह से यहां बच्चे पैदा करना खतरे से खाली नहीं है। लेकिन इनके प्रवास के सही कारण का पता करने हेतु हाल ही में किए गए अध्ययन से पता चला है कि ये व्हेल प्रजनन हेतु नहीं बल्कि अपनी त्वचा को स्वस्थ रखने हेतु प्रवास करती हैं।

ओरेगन विश्वविद्यालय के मरीन मैमल्स इंस्टीट्यूट के रॉबर्ट पिटमैन और उनके साथियों ने चार किस्म की किलर व्हेल पर 62 उपग्रह बिल्ले चस्पा कर दिए जिनकी मदद से वे इनकी गतिविधियों पर नज़र रख सकते थे। दक्षिणी गोलार्ध की 8 गर्मियों तक नज़र रखने के बाद शोधकर्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि ये व्हेल पश्चिमी दक्षिण अटलांटिक महासागर तक 9400 कि.मी. की यात्रा करती हैं। लेकिन वे यह यात्रा प्रजनन के लिए नहीं करतीं क्योंकि तस्वीरों में साफ दिख रहा था कि उनके नवजात शिशु तो अंटार्कटिक महासागर में अठखेलियां कर रहे थे। यानी प्रजनन हेतु प्रवास की परिकल्पना सही नहीं है।

शोधकर्ता जानते थे कि मनुष्यों के समान व्हेल की त्वचा की कोशिकाएं भी लगातार झड़ती रहती हैं। यह झड़ना इतना अधिक होता है कि आप सिर्फ झड़ी हुई कोशिकाओं की लकीर देखकर पता कर सकते हैं कि व्हेल किस ओर गई है। लेकिन व्हेल के सामान्य निवास अंटार्कटिक का पानी बहुत ठंडा होता है जिसकी वजह से शायद व्हेल की त्वचा की कोशिकाएं झड़ नहीं पाती हैं। इन कोशिकाओं पर डायटम नामक सूक्ष्मजीवों की मोटी परत बन जाती है जहां बैक्टीरिया वगैरह घर बना लेते हैं। यह व्हेल के लिए हानिकारक होता है। पिटमैन का कहना है कि व्हेल इतनी लंबी यात्रा गर्म समुद्रों में कोशिकाओं की इस परत और बैक्टीरिया से छुटकारा पाने के लिए करती हैं।

वैसे कुछ शोधकर्ताओं ने 2012 में सुझाया था कि अंटार्कटिक के ठंडे पानी में शरीर की गर्मी को बचाने के लिए किलर व्हेल खून का प्रवाह चमड़ी से थोड़ा दूर अंदर की ओर कर देती हैं। इसकी वजह से त्वचा की कोशिकाओं का पुनर्निर्माण रुक-सा जाता है। इसी वजह से अंततः व्हेल गर्म पानी की ओर चल पड़ती हैं जहां उनकी शरीर क्रियाएं और त्वचा का झड़ना और पुनर्निर्माण तेज़ हो जाता है। *मरीन मैमल साइन्स* में प्रकाशित नए अध्ययन के आधार पर सुझाया गया है कि सिर्फ किलर व्हेल ही नहीं बल्कि तमाम किस्म की व्हेल त्वचा-मोचन के लिए यात्रा करती हैं। वैसे देखा जाए तो यह भी अभी एक परिकल्पना ही है। ***(स्रोत फीचर्स)***

पृथ्वी का एक नया युग: चिबानियन

अंतर्राष्ट्रीय भूगर्भ विज्ञान संघ ने पृथ्वी पर एक नए युग का अनुमोदन किया है। दक्षिणी जापान के चिबा प्रांत में पाई गई तलछट की एक परत के आधार पर इस नए युग की घोषणा की गई है। यह युग लगभग 7 लाख 70 हज़ार वर्ष पूर्व से लेकर 1 लाख 26 हज़ार वर्ष के बीच रहा था।

इस अवधि की विशेष बात यह है कि इस दौरान पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र ने पलटी मारी थी। पृथ्वी के इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है कि उत्तरी व दक्षिणी चुंबकीय ध्रुवों की अदला-बदली हुई है। जब ऐसा होता है तो इसके निशान पृथ्वी की उन चट्टानों पर रह जाते हैं जो उस दौरान ठोस बन रही थीं। ऐसा माना जा रहा है कि इस स्थल पर पाई गई तलछट चुंबकीय उथल-पुथल का बहुत अच्छा रिकॉर्ड उपलब्ध कराएगी।

चुंबकीय ध्रुवीय पलट को ब्रुनहेस-मातुयामा पलटी कहते हैं और यह आज भी विवाद का विषय है। 2014 में *जियोफिज़िकल जर्नल इंटरनेशनल* में प्रकाशित एक शोध पत्र में इटली में पाई गई तलछट की एक परत से प्राप्त जानकारी के आधार पर कहा गया था कि चुंबकीय पलटी में मात्र कुछ दशकों का समय लगता है। दूसरी ओर, 2019 में हवाई में प्राचीन लावा के प्रवाह से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर कहा गया था कि इसमें लगभग 22,000 साल लग जाते हैं। इस पलटी के बढ़िया रिकॉर्ड के साथ चिबा की तलछट शायद बहस को विराम देने का काम करेगी।

ध्रुवों के पलटने के अध्ययन से हम यह समझ पाएंगे कि इस वक्त क्या हो रहा है। हाल के वर्षों में पृथ्वी के चुंबकीय ध्रुवों में थोड़ा स्थान परिवर्तन हो रहा है। वैज्ञानिक यह नहीं समझ पाए हैं कि ध्रुव क्यों भटक रहे हैं। शायद चिबा की चट्टानें कुछ मदद करें। ***(स्रोत फीचर्स)***

इस अंक के चित्र निम्नलिखित स्थानों से लिए गए हैं -

Page 6 - https://www.researchgate.net/profile/Jonathan_Albo/publication/271206757/figure/fig1/AS:667620630085653@1536184570678/The-methanol-based-economy-cycle-model_W640.jpg
Page 7 - https://ars.els-cdn.com/content/image/1-s2.0-S2095495616300092-fx1_lrg.jpg
Page 8 - https://niraamaya.org/wp-content/uploads/2018/09/2018-09-03-2.png
Page 10- https://www.spaceflightinsider.com/wp-content/uploads/2018/08/Spitzer-Space-Telescope-James-Vaughan-SpaceFlight-Insider-image-credit-James-Vaughan.png
Page 11- https://lynceans.org/wp-content/uploads/2015/04/Spitzer_Telescope_Handbook013.png
Page 16- https://cdn.imgbin.com/6/0/15/imgbin-gas-mask-respirator-military-real-gas-masks-svRz1tjx1apSe5T3UWFLjJvFd.jpg
Page 18-https://cdn.mos.cms.futurecdn.net/aVBgqBQC3Pr3xSYqktPvHL-650-80.jpg
Page 19-https://tunza.eco-generation.org/editorPhoto/Urban_heat_island_(Celsius).png
Page 21- https://www.sciencemag.org/sites/default/files/styles/article_main_large/public/figure3_no-text_1280p.jpg?itok=aVifNMbM
Page 22-https://www.ethnologue.com/guides
Page 23- https://www.washingtonpost.com/wp-apps/imrs.php?src=https://arc-anglerfish-washpost-prod-washpost.s3.amazonaws.com/public/NVJ3VZJKQFGKFPBK4QPPOUA3VU.jpg&w=767
Page 24- https://images.squarespace-cdn.com/content/v1/52ec8c1ae4b047ccc14d6f29/1515497800607-U5WQT4M58A3XEGF6XY6V/ke17ZwdGBToddI8pDm48kHzv_vg93HOvTo_NCPmqW_pZw-zPPgdn4jUwVcJE1ZvWQUxwkmyExglNqGp0IvTJZUJFbgE-7XRK3dMEBRBhUpzcbTDmx43LRRdqeNR29jabGT8l5kbfwkCFjl8X88siH7SuRHJ-qYJnSpoo422ASJc/olfactory-bulb.jpg?format=500w
Page 26- https://www.thesun.co.uk/wp-content/uploads/2019/12/CJ-COMP-CHEWING-GUM.jpg?strip=all&quality=100&w=1200&h=800&crop=1
Page 28- https://cdn.mos.cms.futurecdn.net/u3qU9Sc2RnvfhYXQwPLyMK-1200-80.jpg
Page 28- https://www.cnet.com/news/3000-year-old-egyptian-mummy-speaks-with-3d-printed-vocal-tract/
Page 29- https://cdn.mos.cms.futurecdn.net/7cS2DrDAMFRQSMpMyfFDvW.jpg
Page 30- https://static.independent.co.uk/s3fs-public/thumbnails/image/2020/01/29/10/cheetah.jpg?w968h681
Page 32- https://static.toiimg.com/photo/imgsize-330707,msid-73692117/73692117.jpgg
Page 33- https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/1/18/Bartagame_fcm.jpg
Page 34- https://upload.wikimedia.org/wikipedia/commons/thumb/6/63/Himalayan_wolf.JPG/220px-Himalayan_wolf.JPG
Page 35- https://cms.qz.com/wp-content/uploads/2017/10/humpback-whale.jpg?quality=75&strip=all&w=1600&h=900&crop=1

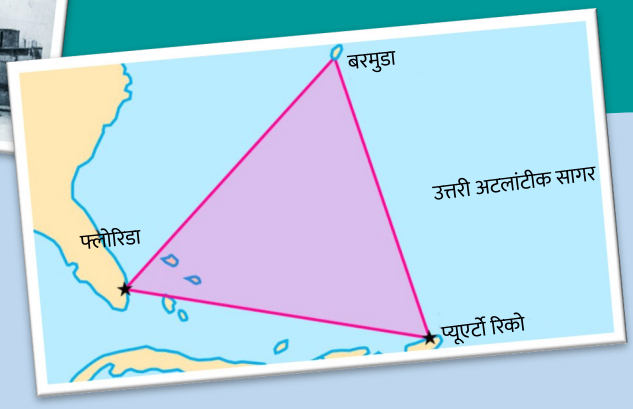

बरमुडा त्रिकोण के मिथक का पुन: भंडाफोड़

लगभग 100 वर्ष पहले डूबे एक जहाज़ के मलबे ने बरमुडा त्रिकोण के मिथक को एक बार फिर धराशायी कर दिया है। यह कहा गया था कि 1925 में एसएस कोटोपैक्सी नामक जो मालवाहक जहाज़ डूबा था उसमें बरमुडा त्रिकोण की भूमिका थी। यह मालवाहक अपनी मंज़िल तक नहीं पहुंच सका था।

बरमुडा त्रिकोण उत्तरी अटलांटिक सागर में एक अपरिभाषित-से क्षेत्र को कहते हैं। इसे शैतान का तिकोन भी कहा जाता है। यह बरमुडा से फ्लोरिडा और प्यूएर्टो रिको के बीच स्थित है। इसके बारे में कहा जाता रहा है कि यहां कई जहाज़, हवाई जहाज़ वगैरह डूबे हैं और इसका कारण पारलौकिक शक्तियों या अन्य ग्रहों के निवासियों को बताया जाता है। तथ्य यह है कि यहां कई जहाज़ नियमित रूप से पार होते हैं और कई हवाई जहाज़ इस क्षेत्र के ऊपर से होकर उड़ते हैं।

हाल ही में एक समुद्री जीव वैज्ञानिक और गोताखोर माइकेल बार्नेट ने उस जहाज़ कोटोपैक्सी का मलबा ढूंढ निकाला है। बार्नेट पिछले कई वर्षों से डूबे हुए जहाज़ों के मलबे खोजने का काम करते रहे हैं। इसी दौरान उन्हें पता चला कि उत्तरी फ्लोरिडा के सेन्ट ऑगस्टीन के तट से करीब 65 कि.मी. की दूरी पर एक बड़ा जहाज़ डूबा था जिसे स्थानीय लोग बेयर रेक के नाम से जानते हैं। यह वास्तव में बहुत बड़ा था।

तो बार्नेट ने गोताखोरी करके उस जहाज़ के मलबे का नाप जोख किया, अखबारों में उस समय छपे लेखों का जायज़ा लिया और साथ ही बीमा के रिकॉर्ड भी देखे और जहाज़ के मलबे से मिली वस्तुओं का मुआयना किया। उनकी तहकीकात से लगता था कि वह जहाज़ शायद कोटोपैक्सी ही था। तो उन्होंने खबर फैलाई कि एसएस कोटोपैक्सी शायद अटलांटिक महासागर के पेंदे में पड़ा है।

कोटोपैक्सी दक्षिण कैरोलिना के चार्ल्सटन बंदरगाह से कोयला भरकर हवाना के लिए रवाना हुआ था। रास्ते में एक तूफान ने इसे डुबो दिया और इस पर सवार 32 कर्मचारियों का कोई अता-पता नहीं मिला था। बाद में पता चला कि कोटोपैक्सी में कई खामियां थीं और इसकी मरम्मत का काम होने वाला था। जांच-पड़ताल में यह भी सामने आया कि कोटोपैक्सी ने डूबने से पहले एसओएस संदेश भी प्रसारित किए थे और फ्लोरिडा स्थित जैकसनविले स्टेशन ने ये संदेश पकड़े भी थे।

मज़ेदार बात है कि जहाज़ का मलबा सेन्ट ऑगस्टीन के तट से कुछ दूरी पर मिला है जो बरमुडा त्रिकोण के आसपास भी नहीं है। *(स्रोत फीचर्स)*

स्रोत विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स
RNI REG. NO: MPHIN/2007/20200

विशाल सौर घड़ियां

सूरज, चांद, तारे हमेशा से कौतूहल का विषय रहे हैं। हर सभ्यता में लोगों ने इनका अवलोकन करके पैटर्न बनाने की कोशिश की है। सदियों से लोग परछाइयां दे खकर समय का अनुमान लगाने की कोशिश करते रहे हैं क्योंकि परछाई से अंदाज़ लगाया जा सकता है कि आकाश में सूरज कहां है। एक छड़ी की मदद से हम सूरज की गति का अच्छा अंदाज़ लगा सकते हैं। यूनान में एरेटोस्थेनीज नामक वैज्ञानिक ने तो एक छड़ी की मदद से घर बैठे पृथ्वी को नाप लिया था। तो छड़ी के कुछ प्रयोग आप भी करें। अगले कुछ अंकों में हम आकाश की टोह लेने के ऐसे कुछ आसान प्रयोग सुझाएंगे, जिन्हें करके मज़ा भी आएगा और शायद समझ भी बढे।

पिछले माह हमने ऐसी सौर घड़ी बनाई थी जो साल भर (यदि सूरज निकला हो) साथ देती है। ऐसी घड़ियां दुनिया भर में कई स्थानों पर स्थापित हैं। मुख्य बात यह होती है कि ये बहुत विशाल होती हैं। इनकी सटीकता इनकी विशालता पर ही निर्भर है। इनमे एक बड़ा सा त्रिभुज होता है जिसे इस तरह बनाया जाता है कि वह उत्तर दिशा में उन्मुख रहे। त्रिभुज की दूसरी खासियत यह होती है कि इसका विकर्ण उस स्थान के अक्षांश के बराबर कोण पर झुका होता है। हमने भी तो ऐसा ही तिकोन बनाया था। ऐसा करने से तिकोन की ढलान पृथ्वी की घूर्णन अक्ष के समांतर होती है।

भारत में चार शहरों में ऐसी सौर घड़ियां स्थपित हैं - दिल्ली, जयपुर, उज्जैन और वाराणसी। इन सभी का निर्माण राजा जयसिंह ने अठारवीं सदी में करवाया था। इनमें से जयपुर की सौर घड़ी (सम्राट यंत्र) दुनिया की सबसे बड़ी सौर घड़ी है और अत्यंत सटीक है। यह दो-दो सेकंड की सटीकता से समय बता सकती है।

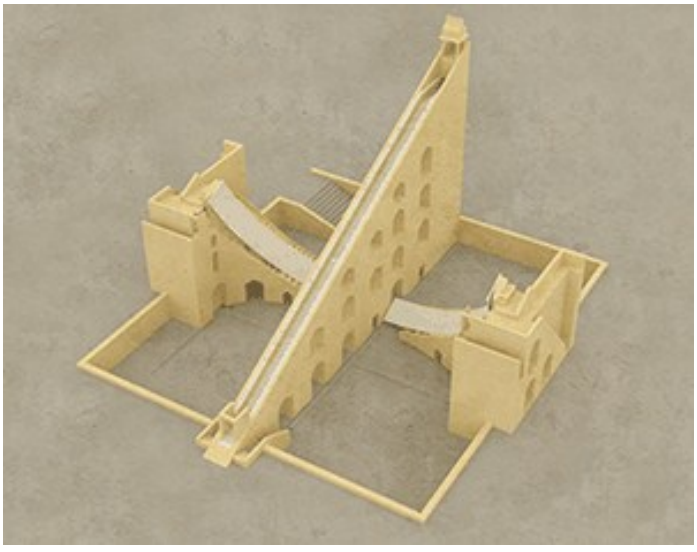

इसमें उत्तर-दक्षिण की सीध में एक सीढ़ी-सी बनी है जिसका ढलान जयपुर के अक्षांश (लगभग 27 अंश) के बराबर है तथा इसका ऊपरी सिरा उत्तर की ओर है। इस सीढ़ी की छाया देखकर समय बताया जाता है।

प्रकाशक, मुद्रक अरविन्द सरदाना की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन द्वारा एकलव्य, जमनालाल बजाज परीसर, फॉर्च्यून कस्तुरी के पास, जाटखेडी रोड, जाटखेडी, भोपाल, म. प्र. पिन - 462 026 से प्रकाशन तथा
आदर्श प्राइवेट लिमिटेड, इंदिरा प्रेस कॉम्पलेक्स, एम.पी. नगर, ज़ोन-1 भोपाल (म.प्र.) 462011 से मुद्रित। सम्पादक: डॉ. सुशील जोशी